भक्ति-पथ की जीवन-ज्योति

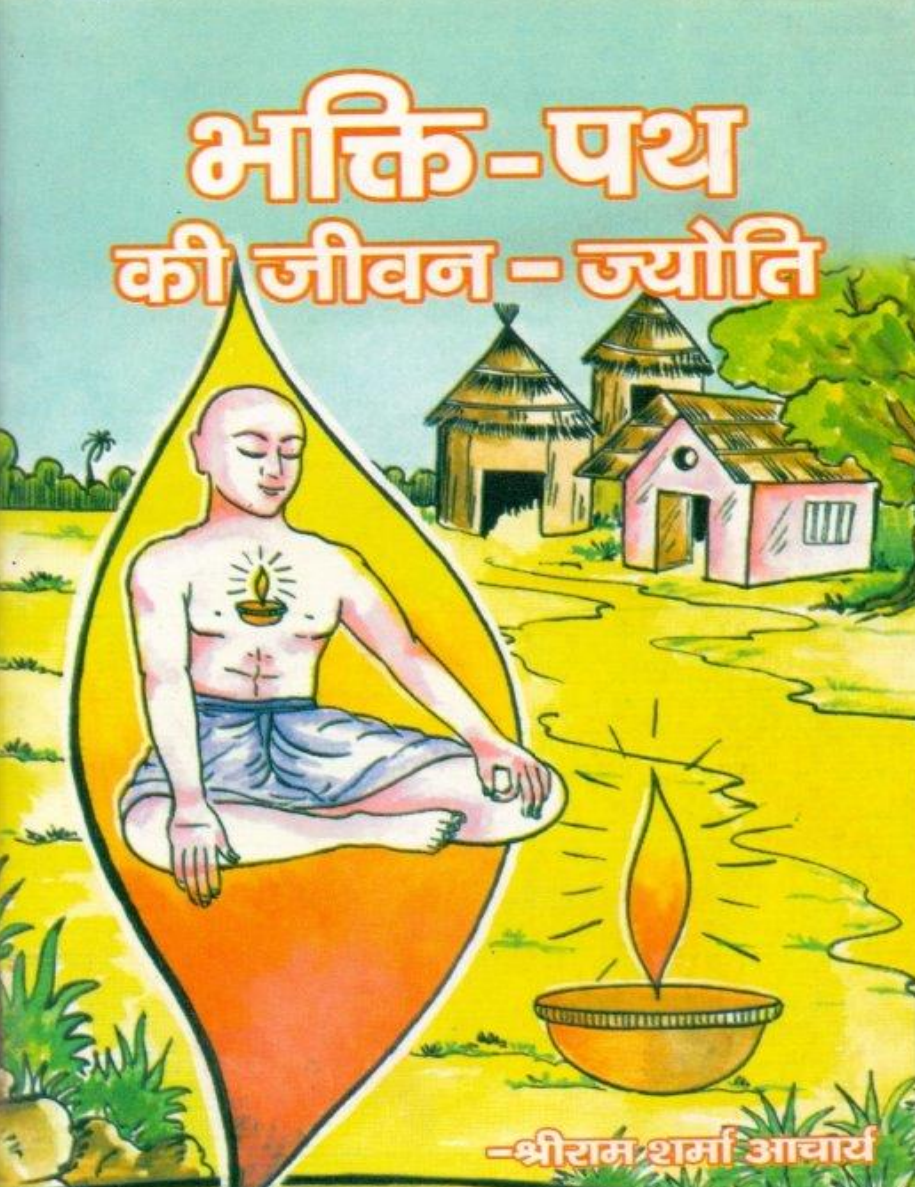

-श्रीराम शर्मा आचार्य

भक्ति-पथ की जीवन-ज्योति

लेखक
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि मथुरा

२००८

मूल्य:10.00 रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि,
मथुरा (उ० प्र०)

भक्ति-पथ की जीवन-ज्योति आत्मश्रद्धा को ईश्वर-केंद्रित बना डालती है। ईश्वरीय भाव-संवेदनाएँ जिसकी आत्मसत्ता का आधार और कलेवर, दोनों बन जाएँ, उसी की श्रद्धा और भक्ति प्रगाढ़ एवं परिपक्व है।

मुद्रक :
युग निर्माण प्रेस,
मथुरा।

भावनात्मक उत्कर्ष ही व्यक्तित्व-विकास का आधार

भावनाओं को श्रेष्ठ आदर्श में नियोजित करने वाले व्यक्ति का व्यक्तित्व उसी आदर्श के अनुरूप विस्तृत विराट हो जाता है। वह सीमित-संकीर्ण या एकाकी-असहाय नहीं रह जाता। भले ही बाहरी तौर पर वह "एकला चलो रे" की नीति का अनुसरण करता—एकाकी बढ़ता दिखे, किंतु, उसे आंतरिक अकेलेपन का अनुभव कभी भी नहीं होता। उसका जीवन आदर्श सदा ही उसका साथी, संबल एवं सहायक बना रहता है। उसी संबल से वह बड़ी-बड़ी बाधाओं को सहने तथा बड़े-बड़े कार्य करते चलने में समर्थ होता है, अन्यथा अकेले की क्या शक्ति ?

एकाकी व्यक्ति की अपनी थोड़ी-सी सीमा मर्यादा है, अपने बलबूते पर भी कुछ कार्य तो हो ही सकता है, पर वह होगा नगण्य ही। बड़ी प्रगति-बड़ी संभावना तो सम्मिलित शक्ति के द्वारा ही मूर्तिमान होती है। एक-एक सैनिक अलग-अलग फिरे, तो उनके छुट-पुट कार्य एक सुगठित सैन्य टोली जैसे नहीं हो सकते।

कई तरह की योग्यताएँ मिल-जुलकर अपूर्णता को पूर्ण करती हैं। परिवार को ही लें उसमें कई स्तर के कई विशेषताओं के मनुष्य मिल-जुलकर रहते हैं तो एक अनोखे आनंद का सृजन करते हैं। पति-पत्नी की योग्यताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, जब वे मिलकर एक हो जाते हैं तो दोनों को ही लाभ होता है, दोनों ही अपने अभावों की पूर्ति करते हैं। वृद्धों का अनुभव, बालकों का विनोद, उपार्जनकर्त्ताओं का धन आदि मिलकर एक ऐसा संतुलन बनता है जिसमें परिवार के सभी सदस्यों का हित, साधन होता है। सभी एक-दूसरे के सहयोग का लाभ उठाते हुए आनंद से रहते और

उत्साह पाते हैं, किंतु यदि परिवार के सदस्यों में सहयोग न हो, मात्र एक सराय में रहने वाले अजनबी मुसाफिरों की तरह निर्वाह करें, तो उनका असहयोग और मनोमालिन्य उस समूह को आनंद रहित, नीरस और समस्याओं से भरा हुआ बना देंगे और उसका बिखर जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत होगा।

कितने लोग कहाँ इकट्ठे होते हैं इसका कोई महत्त्व नहीं। भीड़ तो सदा अड़चन, गंदगी और अव्यवस्था ही उत्पन्न करती है। मेलों-ठेलों में अधिक लोग जमा होते हैं, पर इससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत जहाँ थोड़े-से लोग भी पारस्परिक सहयोगपूर्वक आदान-प्रदान करने और किसी निर्धारित लक्ष्य की ओर मिल-जुलकर चलने के लिए एकत्रित होते हैं, वे सम्मेलन जो निश्चय करते हैं उनके दूरगामी परिणाम उत्पन्न होते हैं। बड़ी संख्या में जमा होते हुए भी यदि लोगों में स्नेह, सहयोग और सामंजस्य नहीं है, तो वे सभी अपने आपको एकाकी अनुभव करते रहेंगे। जहाँ घनिष्टता की मनःस्थिति होगी, एक-दूसरे के दुःख-सुख में सहायक बनकर रहे होंगे, जिनमें एक-दूसरे के हित साधन और कष्ट-निवारण में जितना उत्साह होगा, उनमें उतनी ही प्रसन्नता और निश्चिंतता दिखाई पड़ेगी। वे उसी अनुपात में समर्थ, संपन्न, निर्भय और प्रभावशाली बनकर रह रहे होंगे। उस समूह का भविष्य उज्ज्वल ही बनता जा रहा होगा।

जिसका 'अपनापन' जितना संकुचित है, वह आत्मिक दृष्टि से उतना ही छोटा है। जिसने अपनेपन की परिधि जितनी बड़ी बना ली है उसे उतना ही विकसित परिष्कृत माना जाएगा। स्वार्थी व्यक्ति समाज की चिंता तो दूर अपने परिवार के हित-अनहित तक का विचार नहीं करते और मात्र अपनी ही सुविधा समेटने में लगे रहते हैं। ऐसे लोग अपनी शरीर सुविधा और क्षणिक प्रसन्नता पा सकते हैं, पर उनकी अंतरात्मा इस क्षुद्रता के लिए कचोटती ही रहती है। परिचित लोग घृणा करते हैं और संबद्ध व्यक्ति रुष्ट रहते हैं। उन्हें न कभी कहीं से सच्चा सम्मान मिलता है और न आड़े वक्त में किसी का कारगर सहयोग। जो दूसरों के दुःख-दर्द में शामिल नहीं होता

उसे अपने आपत्तिग्रस्त होने पर किसी की सहायता नहीं मिलती। जिसे दूसरों से कुछ सहानुभूति नहीं उसके साथ भी सहानुभूति कौन व्यक्त करेगा ?

उदारचित्त मनुष्य देखने में घाटा उठाते दीखते हैं, क्योंकि उन्हें दूसरों की सहायता करने में अपना समय, मस्तिष्क और धन खर्च करते हुए देखा जाता है, पर ध्यानपूर्वक देखा जाए तो बात ठीक उल्टी दिखाई पड़ती है। बीज गलता है, तो लगता है वह घाटे में रहा, पर जब उसका अंकुर फूटता है, पौधा बनता है, विशाल वृक्ष होकर फलों-फूलों से लदता है तो प्रतीत होता है बीज का गलना मूर्खतापूर्ण नहीं था, उसने जितना खोया उसकी तुलना में पाया कहीं अधिक है। दूसरों के साथ उदार सहयोग का बरतना—अपनी अन्य आत्मिक सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाता है, दूसरों के मन में अपने लिए श्रद्धा, सम्मान का स्थान बनाता है और अपने चुंबकत्व से अन्य लोगों का स्नेह-सहयोग आकर्षित करता है। इस प्रकार उदार व्यक्ति घटता नहीं बढ़ता ही है। सहयोग की प्रतिक्रिया सुखद सहायता बनकर चारों ओर से बरसती है।

धर्म-शास्त्रों ने दान-पुण्य की महिमा गाई है और उसे हर शुभ कार्य के साथ जोड़ा गया है। इसका कारण मात्र धन को एक से दूसरे के हाथ में पहुँचाना नहीं, वरन् उदार सहयोग की सत्प्रवृत्ति को विकसित करना है। हम अपने ही दुःख को दुःख न समझें, वरन् दूसरों के कष्टों में भी समान संवेदना अनुभव करें। किसी की पीड़ा अपने अंतरःकरण में करुणा और दया उत्पन्न करती हो, तो समझना चाहिए आत्मा की कोमलता जागरूक है और व्यक्ति आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर चल रहा है। जो जितना कठोर है उसे दूसरों को कष्ट पीड़ित देखकर तनिक भी दया नहीं आती। ऐसे लोग परपीड़ा का क्रूर कर्म स्वयं भी करते हैं और दूसरों को करते देखकर प्रसन्न होते हैं अथवा निरपेक्ष बने रहते हैं। इस आंतरिक स्थिति को ही असुरता कहते हैं। ऐसे लोग अपने लाभ के लिए ही नहीं, अकारण भी परपीड़ा का आनंद लेते हैं और उस दुष्टता को वीरता का नाम देते

हैं। कसाई, शिकारी, डाकू, हत्यारे प्रायः ऐसी ही असुर मनोवृत्ति के होते हैं। अपराधी मनोवृत्ति भी इसी कठोरता की पृष्ठभूमि पर पनपती है।

मनुष्य असुरता छोड़े और देवत्व की दिशा में अग्रसर हो इसका एक ही उपाय है, उदार सहकारिता की मनोवृत्ति का विकास, उसे अंतः भूमि में परिपक्व करने वाले क्रिया-कलापों का अभ्यास। दान-पुण्य की महिमा इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर बताई गई है। आज तो इस क्षेत्र में भी मूढ़-मान्यताओं का साम्राज्य है। लोग अमुक वंश या वेश के लोगों को दान लेने का ठेकेदार मानते हैं और देवी-देवताओं तथा पितरों को प्रसन्न करने की दृष्टि से पैसा पानी की तरह बहाते हैं। कुछ लोग अपने को उदार दानी होने के प्रचार विज्ञापन की दृष्टि से तीर्थयात्रा, ब्रह्मभोज, स्मारक आदि में धन खर्च करते हैं। यह आज के घटिया मनुष्य के घटिया चिंतन का घटिया स्वरूप है। वस्तुतः दान एक सत्प्रवृत्ति है, जो मात्र धन देकर ही नहीं, श्रम, समय, प्रोत्साहन, स्नेह, सत्परामर्श, सहानुभूति आदि के माध्यम से भी उसे चरितार्थ किया जा सकता है। दानी के लिए धनी होना आवश्यक नहीं। निर्धन भी अपने उदार चित्त के आधार पर धन कुबेरों से भी बढ़ी-चढ़ी सेवा-सहायता कर सकते हैं। सद्भावना की कमी न हो, उदारता सम्मिलित हो, दूसरों के दुःख में सहायता करने की कसक उठती हो, किसी को सुखी बनाने में रस आता हो, तो समझना चाहिए दानशीलता के अनेकानेक आचरण स्वयमेव होते चले जाएँगे और उसके लिए व्यस्त एवं त्रस्त स्थिति में भी पग-पग पर सुअवसर मिलते रहेंगे।

आवश्यक नहीं कि कोई पीड़ित या पतित मिले तब के लिए दान की प्रतीक्षा में बैठे रहा जाए अथवा उन्हें खोज-खोजकर बुलाया जाता रहे। यह तो आपत्ति धर्म है कि कभी कोई दुःखी व्यक्ति दिखाई पड़े, तो उसकी उचित सहायता विवेकपूर्वक की जाए। भावावेश में अनुचित सहायता करने से तो भिक्षावृत्ति पनपती है और कुपात्रों के लिए एक घिनौना व्यवसाय अपनाकर अकर्मण्य बनने का दुर्भाग्य

पल्ले पड़ता है। इस क्षेत्र में पूरे विवेक का प्रयोग करने की आवश्यकता है। विवेकपूर्ण सहायता ही लाभदायक सिद्ध होती है। माता को बच्चे के फोड़े का ऑपरेशन कराते समय जो कठोरता धारण करनी पड़ती है वस्तुतः वह भी विवेकपूर्ण करुणा का ही एक अंग है।

अपने स्वजन, संबंधियों, पड़ौसी, परिचितों में कोई भी हारी-बीमारी हो, तो उसकी दवा-दारू परिचर्या, पूछताछ, सहानुभूति, आश्वासन के लिए कुछ समय या प्रयत्न करके अपनी सद्भावना का परिचय दिया जा सकता है। अन्य प्रकार की मुसीबतें तथा कठिनाई भी लोगों के सामने आती रहती हैं। ऐसे अवसरों पर लोग अक्सर अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और औंधे-सीधे विचार करके अवाँछनीय मार्ग अपनाने लगते हैं, यह मनःस्थिति भी शारीरिक बीमारी से कम भयंकर नहीं। अपने संपर्क क्षेत्र में अक्सर कई व्यक्ति ऐसी आपत्ति में फँसे होते हैं। उनके साथ सहज आत्मीयता विकसित करनी चाहिए और अपने विश्वास क्षेत्र में लेना चाहिए इतना कर सकने पर भी स्नेह-सिक्त, तर्क और तथ्यों से भरा परामर्श प्रभावी बनता है। ऐसा मार्ग-दर्शन कर सकना—धन दान करके किसी दीन-दुःखी की सहायता करने से किसी भी प्रकार कम महत्त्व का नहीं है। साधारण वार्तालाप में भी संपर्क में आने वालों को बिना उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचाए, बिना निंदा, भर्त्सना किए सहज सत्परामर्श दिए जा सकते हैं और उनसे भी धन दान जैसे ही सत्प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं। अपना चरित्र आदर्श बनाकर उसे अनुकरणीय एवं प्रेरणाप्रद बना लिया जाए, तो वह भी प्रकारांतर से संपर्क क्षेत्र में बिखेरा गया अयाचित अनुदान ही माना जाएगा।

घर में ऐसी परंपरा प्रचलित करनी चाहिए जिसमें सभी को एक-दूसरे की सहायता करने की उत्सुकता बनी रहे। इसके लिए उन्हें बराबर अवसर भी मिलते रहने चाहिए। बड़ी क्लास के लड़के अपने से छोटी कक्षा के भाई-बहिनों को पढ़ाने के लिए नियमित रूप से हर रोज समय निकालें और उन्हें खिलाने, हँसाने, अच्छी आदतें

अपनाने, ज्ञान बढ़ाने आदि में सहायता करें। छोटी आयु के बच्चे बड़ों के कामों में हाथ बँटाने में, उनकी छोटी-मोटी आवश्यकताएँ स्वयं जुटा देने में रुचि रखें, बराबर वालों के साथ जी खोलकर हँसने, बोलने और मिल-जुलकर साथ-साथ काम करने का क्रम बनाएँ। दूसरों की बिखरी चीजों को यथास्थान रख देना एक छोटा-सा काम है, पर उससे यह छाप पड़ती है कि हमारे प्रति कितना ध्यान है ? ऐसे छोटे-छोटे सहयोग देकर साथ वालों की सद्भावना एवं कृतज्ञता अर्जित की जा सकती है।

सार्वजनिक हित के लिए सामूहिक कार्यों में सदा अग्रणी रहना चाहिए। लोक-मंगल के लिए चल रही गतिविधियों में पूरे उत्साह के साथ भाग लेना चाहिए। इन सत्प्रवृत्तियों में भाग लेने से विश्व सेवा के विशाल क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर मिलने से आत्म-विस्तार का लाभ मिलता है, साथ ही समाज को समुन्नत बनाने का जीवनोद्देश्य भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत एवं पारिवारिक लाभ के कार्यों में रुचि रखी जाती है, उसी प्रकार समाज को भी बड़ा परिवार मानकर उसे समुन्नत बनाने वाले सामूहिक सार्वजनिक कार्यों में हमारा भाव-भरा अनुदान एवं सहयोग सदा ही सम्मिलित रहना चाहिए।

अंतःकरण की उदारता को विकसित करना, अपना स्तर बढ़ाना और दूसरों का सम्मान सद्भाव अर्जित करना, यह लाभ जो कमाता है वह देने की अपेक्षा प्रकारांतर से कहीं अधिक प्राप्त कर लेता है। स्वार्थ-परायण व्यक्ति चतुर दीखता है, पर वह एकाकी रहकर खोता भी अधिक है। अस्तु हर विवेकवान का प्रयत्न यह होना चाहिए कि वह अपनी आत्मीयता का क्षेत्र विस्तृत करे, दूसरों के दुःख को बँटाने और अपने सुख को बाँटने में उत्साह रखे। सहयोग स्वभाव बनाए और जहाँ भी आवश्यकता हो, अवसर हो सहकारिता की सत्प्रवृत्ति चरितार्थ करने में पूरी तत्परता बरतें। सद्भाव और सहयोग के बल पर ही परिवार बनते, सुदृढ़ होते और बढ़ते हैं। संगठन का मूल तत्त्व यही है। मानवी प्रगति सहयोग के आधार पर ही संभव हुई है और

उदात्त भावनाएँ ही इस सहयोग का आधार जुटा पाती हैं। अतः प्रगति के लिए भावनात्मक उदारता-उत्कृष्टता का अभिवर्धन आवश्यक है।

उपभोग की इच्छा, कृमि-कीटकों, पशु-पक्षियों और अविकसित प्राणियों में भरी रहती है, उसी से प्रेरित होकर वे अपने विविध क्रिया-कलाप चलाते हैं। पेट की भूख को पूरा करने के लिए जीव-जंतु अहर्निश भागते-दौड़ते देखे जाते हैं। प्रौढ़ावस्था में उन्हें प्रजनन की उत्तेजना व्यग्र करती है उसकी तृप्ति के लिए वे जोड़ा मिलाते हैं और भिन्न लिंग वाले प्राणी के साथ दोस्ती गाँठते हैं। मादा को प्रकृति ने एक और भावनात्मक विशेषता दी है, वात्सल्य। इस प्रेरणा से उसे घोंसला बनाने, अंडे सेने और बच्चे पालने का झंझट सहन करना पड़ता है। यदि उस जाति के प्राणी में नर-मादा के साथ रहने का प्रचलन रहा, तो फिर उसे भी पत्नी को शिशु पालन में सहारा देना पड़ता है। इतनी ही छोटी सीमा में अविकसित पशु-पक्षियों और प्राणियों की जीवनचर्या का आरंभ और अंत होता है। शरीर की दो ही भूख हैं पेट और प्रजनन। निकृष्ट स्तर के प्राणी इन दो की तृप्ति के अतिरिक्त और कुछ न तो सोचते हैं और न करते हैं। भूख और उसकी तृप्ति को खाते रहने का प्रयास इस शब्द में भी कहा समझा जा सकता है।

अविकसित मनुष्य भी इसी परिधि में घूमते हैं। उनके सोचने और करने का घेरा इतना ही सीमित होता है। स्वादेंद्रिय से लेकर जननेंद्रिय तक की लिप्साएँ-लालसाएँ मन में विविध प्रकार के विक्षोभ उत्पन्न करती हैं और उन उद्वेगों के समाधान के लिए कई तरह की गतिविधियाँ अपनानी पड़ती हैं। स्वादिष्ट भोजन पाने पकाने के लिए रसोईघर का पाक विद्या का विस्तार होता है। एक के बाद दूसरे स्वाद और शक्ल के व्यंजन बनाए तलाशे जाते हैं। घर में संतोष नहीं होता तो हाट, बाजार और होटलों में पत्ते चाटे जाते हैं। स्पष्ट है कि चटोरापन ही स्वास्थ्य संपदा का सत्यानाश करता है। रुग्णता और अकाल मृत्यु का ग्रास बनता है फिर भी स्वाद तो स्वाद ही

ठहरा। विकसित कहे जाने वाले अविकसित स्तर के नर पशु के लिए स्वाद की महिमा बहुत बढ़ी-चढ़ी हो गई, अन्य प्राणी भूख की तृप्ति के लिए व्याकुल रहते हैं। मनुष्य की विकासोन्मुख विशेषता स्वादेंद्रिय से चटोरापन तक बढ़ गई। मूल बात खाने और पेट भरने तक ही सीमित रह गई।

शरीर की अगली भूख कामचेष्टा है। अन्य प्राणी साथी की तलाश और यौन प्रयोजन पूरा करके उस क्षुधा की तृप्ति कर लेते हैं। मनुष्य ने कामचेष्टा का बौद्धिक विस्तार किया है और बहुत दिनों तक साथ रहने वाले साथी की तलाश और निर्बाध यौन-कर्म का विधि-विधान बनाया है। विवाह उसी का नाम है। इतने से काम नहीं चला तो बौद्धिक और शारीरिक व्यभिचार के अनेकानेक तरीके ढूँढ़े। नर-नारी साथ-साथ रहे, तो यौन-कर्म के प्रतिफल प्रजनन को भी व्यवस्थित करना पड़ा। नारी को प्रसव और नर को पशु-पालन के आवश्यक साधन जुटाना भी आवश्यक हो गया। बात यौन कर्म भर की थी, पर उसी की प्रतिक्रिया बच्चे-कच्चों के रूप में सामने आ खड़ी हुई, तो समाज व्यवस्था के अनुसार वह उत्तरदायित्व भी वहन करना पड़ा। समीप और साथ रहने के कारण बालकों की कोमलता एवं सुषमा भी सुहाने लगी अतः बंधन और भी कड़े हुए और घर-परिवार बन गया।

अन्य प्राणी भी यौन-कर्म की ऐसी ही क्रिया-प्रतिक्रिया में व्यस्त पाए जाते हैं, मनुष्य ने भी अपने स्तर के अनुरूप इन्हीं दो प्रवृत्तियों का विकास किया है। पेट भरने की साधन-सुविधा, तन ढकने, विलास, विन्यास के साधन जुटाने की अन्य कई दिशाओं में विस्तृत हो गई। यौन-कर्म का विस्तार कतिपय काम-क्रीड़ाओं एवं विनोद विडंबनाओं में विकसित हुआ। विवाह परिवार और व्यभिचार इसी यौन लिप्सा का विस्तार है। इन्हीं प्रयासों में लगी हुई बौद्धिक चेतना को खाने की, शरीर तृप्ति की, प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। इस क्रियाशीलता की भाव प्रेरणा को लोभ और मोह कह सकते हैं। जननेंद्रिय प्रतिक्रिया के कारण जिन प्राणियों से संबंध जुड़ा उन्हें 'मोह' की

परिधि में ले सकते हैं और पेट पालने से लेकर शरीर संरक्षण के अन्य प्रयोजनों की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन जुटाने की प्रवृत्ति को लोभ कह सकते हैं। आमतौर से नर-पशुओं का क्रिया-कलाप इतने तक ही सीमित रहता है।

थोड़ा और बौद्धिक विकास हुआ, तो एक नई मस्तिष्कीय भूख लगती है—जिसे अहंकार की तृप्ति कहते हैं। दूसरों की तुलना में अपना बड़प्पन चाहना—इसे अहंता कहा गया है। अहंकार की पूर्ति के लिए मनुष्य ऐसे काम करते हैं जिससे उन्हें दूसरों की तुलना में अधिक सफल और अधिक संपन्न कहा जा सके। चूँकि आज धनवान को अधिक सम्मान प्राप्त है इसलिए चेष्टा अधिकाधिक धनी बनने की होती है। इसमें सम्मान के अतिरिक्त अधिक मात्रा में अधिक सुविधाजनक वस्तुओं को प्राप्त करने का अवसर रहता है। धनी व्यक्ति निर्धनों पर अपनी गरिमा की छाप तो डालते ही हैं, परिवार समेत इसी धन-संपदा के आधार पर अधिक सुखोपभोग किया जा सकता है। अस्तु धन संग्रह की एक अतिरिक्त आकांक्षा भी मनुष्य में बढ़ी-चढ़ी मात्रा में पाई जाती है जिसे 'तृष्णा' कहते हैं।

वैभव का प्रदर्शन करने के लिए, तरह-तरह के ठाट-बाट बनाए जाते हैं। शृंगारों, साज-सज्जा का यही प्रयोजन है कि निर्धन और अभावग्रस्त लोग उस वैभव का आतंक मानें और धनवान को अपने से ऊँचे स्तर का समझकर सम्मान प्रदान करें। कई बार तो गुंडागर्दी और आतंकवाद का भी उद्देश्य अहंकार प्रदर्शन ही होता है। प्राचीन काल में तो युद्ध भी इसी अहंता की सनक पूरी करने के लिए लड़े जाते थे। लूट-खसोट से लेकर रोष-प्रतिरोध भी उन दिनों युद्ध प्रवृत्ति को भड़काते थे, पर मूल कारण आतंकवादी, अहंकार का प्रदर्शन ही रहता था। अब भी लोग इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर करने, न करने योग्य कृत्य-कुकृत्य करते रहते हैं। कई बार तो धर्माडंबरों के खर्चीले और कष्टमय प्रदर्शन भी इसी निमित्त किए जाते हैं।

वैभव संचय और अहंकार प्रदर्शन की संयुक्त महत्त्वाकांक्षा को 'तृष्णा' नाम दिया जाता रहा है। शरीर तृप्ति की प्रवृत्ति को वासना

और मानसिक लिप्सा की पूर्ति को तृष्णा कहते हैं। देखा जाता है कि ओछे स्तर का मनुष्य समाज अपनी समस्त क्षमता को इन्हीं दो कार्यों में जुटाए रहता है। खाने और पीने की अभिलाषा ही उसके समस्त क्रिया-कलापों का केंद्रबिंदु होता है। इसे पशु प्रवृत्ति से एक कदम भी ऊँचा स्तर नहीं कहा जा सकता। पशु शारीरिक और मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से पिछड़ा होता है, इसलिए उसके प्रयास भी उतने ही छोटे और क्षणिक होते हैं। मनुष्य चूँकि विकसित स्तर का है इसलिए उससे न केवल शारीरिक सुखोपभोग के दो आधार पेट और प्रजनन का विकास किया है, वरन् अहंता की मानसिक क्षुधा विकसित करके तृष्णा पूर्ति के साधन जुटाए हैं। यों यह तृष्णा, अहंता अन्य प्राणियों में भी पाई जाती है। मधुमक्खियाँ और चींटियाँ संग्रह करना जानती हैं और सर्प, सिंह आदि को अहंकारी आक्रोश प्रकट करते सदा ही देखा जाता है। दहाड़ते, चिंघाड़ते नर वर्ग के प्रौढ़ प्राणी प्रायः अपना अहंकार ही व्यक्त करते हैं। कई बार तो वे इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मल्ल-युद्ध की चुनौती भी देते हैं।

सृष्टि के अन्य प्राणियों से मनुष्य को विशिष्टता प्रदान की गई है वह उसकी शारीरिक बौद्धिक गरिमा नहीं, वरन् भावनात्मक महानता है। शरीर की दृष्टि से मनुष्य कितने ही प्राणियों से पिछड़ा है। उसमें जलचरों और नभचरों जैसी डूबने, तैरने या उड़ने की विशेषता कहाँ है ? थलचरों में भी घोड़े जैसे दौड़ने वाले, हाथी जैसे विशालकाय और सिंह जैसे पराक्रमी कितने ही प्राणी हैं जो मनुष्य की शारीरिक क्षमता को सहज ही चुनौती दे सकते हैं। मानसिक दृष्टि से, इंद्रिय उत्कृष्टता की दृष्टि से छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े तक मनुष्य से कहीं आगे हैं। गंध का आश्रय लेकर छोटे कीड़े अपनी जीवनचर्या चलाते हैं। चमगादड़, मक्खी, मधुमक्खी, चींटी, दीमक जैसे तुच्छ प्राणियों की मानसिक विशेषताएँ देखकर दंग रह जाना पड़ता है। इनमें से कितने को तो वर्षा, सूखा, ऋतु परिवर्तन से लेकर भूकंप आदि का भी पूर्वाभास रहता है। इन विशेषताओं का लेखा-जोखा

लिया जाए, तो मनुष्य को इन प्राणियों की तुलना में पिछड़ा हुआ ही पाया जाएगा। वह बंदर की तरह न तो पेड़ों पर रहकर जीवन यापन कर सकता है और न चूहे की तरह बिलों में ही उसका गुजारा है। बर्फ में रहने वाले सफेद भालू पेनगुइन पक्षी जितनी क्षमता भी तो उसमें नहीं है। बिना दिशा यंत्र या घड़ी की सहायता के हजारों मील लम्बी यात्रा करने और अपने स्थानों को लौट आने वाले पक्षियों जैसी विशेषताएँ उसमें कहाँ हैं ?

मनुष्य की अपनी महानता और विशेषता एक ही है भावनात्मक उत्कृष्टता। वह खाने में नहीं खिलाने में रस लेता है और उसी से अपनी महानता को संतुष्ट परिपुष्ट करता है। दूसरों को दुःख पाते देखकर स्वयं दुःखी हो उठना और पिछड़े हुओं की, पीड़ितों की सहायता के लिए हाथ बढ़ाना जिसके लिए अनिवार्य और अपरिहार्य हो जाए उसे ही मानवी विशेषता से संपन्न कहना चाहिए। 'करुणा' को मानवी उत्कृष्टता का अविच्छिन्न अंग कह सकते हैं। हिमालय के उच्च शिखर पर जमा हुआ बर्फ पिघल कर निचले क्षेत्र की जल आवश्यकता को पूरा करने के लिए नदी-निर्झरों के रूप में बहना है। इस बहाव में प्रकृति की करुणा को बहता हुआ देखा जा सकता है। बादलों में से ऊपर से जल-राशि के रूप में यह करुणा ही बहती है। वृक्षों में से पत्र पुष्प और फलों के उत्पादन को अभावग्रस्त आवश्यकता की पूर्ति के लिए करुणा का विकास ही कह सकते हैं। घास इसी उद्देश्य को लेकर उगती और जीवित रहती है कि उससे प्राणियों की क्षुधा पूर्ति का साधन बन सके।

आत्मा का गुण है, आत्मीयता। आत्मीयता का अर्थ है, अपनी विशेषताओं और परिस्थितिओं से दूसरों को सजाने, सँजोने की प्रवृत्ति। हमें जो वैभव मिला है उसे मिल-बाँटकर खाने के लिए यह आत्मीयता ही प्रेरित करती है। अपना आपा शरीर तक सीमित न रहकर जब अधिकाधिक क्षेत्र में विकसित होता है, तो उसे आत्म विस्तार कहते हैं। आत्म-विकास ही मानव जीवन का लक्ष्य है। अपूर्णता का अर्थ है सीमाबद्धता और पूर्णता का तात्पर्य है सीमा का

अधिकाधिक विस्तार। शरीर और परिवार तक सीमाबद्ध रहना उतने ही क्षेत्र में सुख-दुःख में दिलचस्पी रखना यह बताता है कि चेतना को स्वार्थ भरी संकीर्णता ने भव-बंधनों में अवरुद्ध करके रखा है। आत्म-विस्तार जिस क्रम से जितना होगा उतनी ही आत्मीयता की परिधि बढ़ती जाएगी। जो आत्मीय होते हैं उनके दुःख बँटाने और सुख बढ़ाने की आकाँक्षा स्वभावतः उमँगती है। जिनके अंतःकरण में असंख्यों को अपना मानने की भाव चेतना जाग पड़े, समझना चाहिए कि आत्मीयता की महान आध्यात्मिक विभूति का वरदान उसे उपलब्ध होने लगा।

आत्मा को परमात्मा का पद तब प्राप्त होता है जब वह अपनी लघुता को महानता में विकसित करता है और स्वार्थ को परमार्थ की सीमा तक बढ़ाता है। जिसे परमार्थ प्रतीत होने लगे, समझना चाहिए उसे आत्म-विस्तार का अध्यात्म अनुदान मिलना आरंभ हो गया। नर को नारायण-पुरुष को पुरुषोत्तम बनने के लिए आत्म-विकास की मंजिल पूरी करनी पड़ती है। सीमित से असीम बनना पड़ता है। 'अपने में सबको और सब में अपने को देखने का दृष्टिकोण ही तत्वज्ञान है। इसी को ब्रह्मविद्या एवं आध्यात्मिकता का सार कह सकते हैं। पेट प्रजनन की और अहंता की परिधि से ऊँचे उठकर जब संसार के पिछड़ेपन को हटाने के लिए अपने समस्त साधनों को नियोजित करने की करुणा जगे, तो समझना चाहिए कि मानवता का महान प्रकाश अंतःकरण में उठा। जब शरीर और परिवार से आगे बढ़कर समस्त संसार को समुन्नत बनाने के लिए सक्रिय सद्भावना उमंगे तो कहना चाहिए मानवी गरिमा का उत्कर्ष हो चला। यही है मानव जीवन का लक्ष्य जिसे पाए बिना किसी का भी अंतरात्मा सुखी संतुष्ट नहीं हो सकता।

❐ ❐

भाव के भूखे हैं भगवान

भक्ति मार्ग की गरिमा इसलिए सर्वोपरि है क्योंकि वह भाव संवेदनाओं की उच्चस्थिति है। यह उच्च भावनाएँ तभी उत्पन्न होती हैं, जब चेतना अधिक परिष्कृत स्थिति में जा पहुँचती है इससे निम्न परिस्थिति में छोटे स्तर ही सक्रिय हो पाते हैं। कृमि-कीटकों में मात्र शरीरगत सक्रियता ही देखने में आती है। पशु-पक्षियों में ज्ञान का उदय होते देखा जा सकता है। भावनाएँ तो उनमें से कुछेक में ही सीमित मात्रा में पाई जाती है। वे सहचरत्व एवं प्रजनन प्रभाव से प्रभावित रहती हैं। नर का मादा के प्रति और मादा का नवजात शिशुओं तक एक सीमा तक प्यार रहता है। मनुष्य शरीर में भी यह विकास स्तर इसी क्रम से उभरता है वनमानुसों में कर्म की प्रधानता रहती है उनमें ज्ञान, विवेक, स्वल्प मात्रा में होता है। कुछ और विकसित समझे जाने वाले लोग शिक्षित, चतुर, बहुज्ञ व्यवहार कुशल तो होते हैं, पर उनमें करुणा-ममता उदारता जैसी भाव संवेदनाएँ तथा सदुद्देश्यों में श्रद्धा निष्ठा जैसी उत्कृष्टताएँ स्वल्प मात्रा में देखी जाती हैं। इनका विकास आत्मिक प्रगति की ऊँची कक्षा में पहुँचने पर होता है। इसलिए सामान्य लोगों को कर्म प्रधान पार्थिव पूजा, परिक्रमा, तीर्थ यात्रा, व्रत, मौन, जप, कीर्तन जैसी क्रिया उपासनाएँ बताई जाती हैं। ज्ञान भूमिका में पहुँचने पर स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिंतन, ध्यान, धारणा जैसी चिंतन प्रधान साधनाओं में नियोजित किया जाता है। सबसे ऊँची स्थिति भाव संवेदनाओं के उभार उल्लास की है। इसी में भक्तियोग बन पड़ता है। आत्मवत् सर्व भूतेषु-वसुधैव कुटुंबकम की मान्यता इसी आत्म विश्वास की स्थिति में हृदयंगम हो पाती है। सब हमारे, हम सबके की उच्च मनोभूमि बन पड़ने पर मनुष्य साधु ब्राह्मण, परिव्राजक लोकसेवी की तरह आचरण करता है उसका 'अहम्' विस्तृत होते-होते 'त्वम्' बन जाता है। यह

समर्पण-विसर्जन अद्वैत, तत्त्व दर्शन के रूप में अंतः चेतना पर आच्छादित होता है तो मनुष्य ऋषि कल्प बन जाता है, ऐसे ही लोगों को पृथ्वी के देवता कहते हैं। अंतःस्थिति के मनुष्य में देवोपम सामर्थ्य भी होती है।

आत्मिक प्रगति की उच्च भूमिका में आनंद की प्राप्ति होती है। उससे पहले ज्ञानजन्य और कर्मजन्य संतुष्टि समृद्धि पुष्टि भर का सुख संतोष मिल पाता है। उच्च आत्मिक भूमिका में पहुँचे हुए व्यक्ति को उच्चस्तरीय भाव संवेदनाओं से पुलकित पाया जाता है। इसे भक्ति कहते हैं। भक्ति भगवान की, की जाती है। प्रेम का आरंभ-आरोपण श्रेष्ठता के समुच्चय भगवान में श्रद्धा के रूप में किया जाता है। इस व्यायामशाला में परिपुष्ट हुई सबलता जन समूह के मध्य में अपना चमत्कार दिखाती है। उसके प्रेम अनुदान का प्रसाद पाकर असंख्य व्यक्ति ऊँचे उठते, पार होते और धन्य बनते हैं।

परमात्मा क्या है ? उसकी अनुभूति मनुष्य को किस रूप में होती है ? इसका रहस्योद्घाटन करते हुए एक ऋचा में कहा गया है—**'रसो वै सः। रस ह्येवाय लब्ध्वानंदी भवति। स एवरसानां रस तमः।** अर्थात् वह परमात्मा 'रस' है। उस रस का पान कर आनंद से ओत-प्रोत बन जाता है। वह रसों में सर्वोत्तम रस है।

उपनिषद्कार भगवान को मधु ब्रह्म कहते हैं—**'मधु क्षरित तद् ब्रह्म'** अर्थात् जिसमें मधुरता टपकती है वह ब्रह्म है। ऋग्वेद में उसे मधु क्षरन्ति सिंधवः। मधुरता बरसाने वाला समुद्र कहा गया है। इस मधुरता की पराकाष्ठा को 'स्वीटेस्ट लव' एवं 'सुपर मैड डी लाइट' जैसे नाम भी दिए गए हैं। ईसा के शब्दों में 'गॉड इज लव', प्रेम ही परमेश्वर है। संत इमर्सन के शब्दों में 'दि एसेन्स ऑफ गॉड इज लव'—परमात्मा का सार तत्त्व प्रेम है। संत ब्रौनिका की अनुभूति है 'व्हियर प्लेजर दियर इज गॉड', उल्लास वहीं है जहाँ परमात्मा है।

भक्ति का अर्थ है प्रेम। इसका श्रीगणेश—शुभारंभ ईश्वर भक्ति से किया जाता है क्योंकि वही इस संसार में सबसे अधिक प्रेम करने योग्य है। उसी की पात्रता ऐसी है जिस पर पूरी तरह आसक्त होकर

अंतःकरण का समस्त प्रेम रस पूरी तरह उँड़ेला जा सकता है। अन्य प्राणी या पदार्थ भी सत्, रज, तम की त्रिविधि प्रकृति से बने हैं। उनकी स्थूल संरचना मिट्टी, पानी, हवा, आग से हुई है। वे सभी बदलते और मरते हैं। ऐसी स्थिति में उनके साथ चिर-स्थाई शाश्वत प्रेम संबंध नहीं निभ सकता है। उनकी बदलती रहने वाली परिस्थिति और मनःस्थिति ऐसे कारण उत्पन्न कर देती है जिससे अपनी प्रेम-निष्ठा भी उलट-पुलट जाए। अस्तु प्रेम का शुभारंभ ऐसे आधार पर करना पड़ता है जहाँ फेर बदल करने की विवशता कभी भी उत्पन्न न हो।

अमृत नाम के एक तत्त्व की कल्पना की जाती रही है जिसका रसास्वादन अद्‌भुत है। उसे पीते समय ही आनंद रहता हो सो बात नहीं, पर उसकी कुछ बूँदें चख लेने के बाद मस्ती की प्रतिक्रिया चिरस्थाई जैसी हो जाती है।

इंद्रियों के स्वाद ऐसे हैं जो एक बार चख लेने पर बार-बार मन को उसी चेष्टा के लिए खींचते रहते हैं। पद, सम्मान, संग्रह, वर्चस्व के स्वाद भी ऐसे हैं जो एक बार तृप्त होने से ही समाप्त नहीं होते, पर दिन-दिन अधिकाधिक तीव्र होते चले जाते हैं। उनकी माँग, भूख और अधिक उग्र बनती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा की आकांक्षा एक ही रहती है, प्रेम। वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति के लिए सामान्य मनुष्य की समस्त बौद्धिक और शारीरिक गतिविधियाँ सक्रिय रहती हैं।

आहार निद्रा की प्रारंभिक आवश्यकताएँ पूरी करने को कृमि-कीटक भी सक्रिय रहते हैं। मनुष्य का भौतिक जीवन वासना, तृष्णा और अहंता जैसी मनोगत सरसताओं की आकाँक्षा में तत्पर रहता है और उसकी पूर्ति में निरत रहता है।

ठीक इसी प्रकार उच्चस्तर पर उठा हुआ अंतःकरण प्रेम का अमृत पीने के लिए आतुर पाया जाता है। कामुक अथवा महाप अपने

मनुष्य उससे कहीं अधिक उद्विग्न-व्याकुल प्रेम रस के रसास्वादन के लिए पाया जाता है।

प्रेम की विशेषता है दो आत्माओं को एक में जोड़ देना। पति-पत्नी में प्रणय-प्रेम जब अधिक घनिष्ठ हो जाता है तो वे दो शरीर एक प्राण कहे जाने लगते हैं। वस्तुतः भावना क्षेत्र में दोनों का अनुभव भी ऐसा ही होता है कि उनका एक ही व्यक्तित्व दो शरीर धारण करके विचरण कर रहा है।

प्यार वस्तुतः अपनेपन की प्रतिक्रिया मात्र है। जिस वस्तु या व्यक्ति को हम जितना अधिक अपना समझते हैं उसी अनुपात से उसे प्यार करते हैं। यह प्रेम अनुभूति इतनी सघन होती चली जाती है कि प्रेमी को सुख-दुःख अपने लगने लगते हैं। उसकी इच्छा कामना की पूर्ति भी ऐसी लगती है मानो अपनी ही इच्छा पूर्ति हो रही है। स्वयं कष्ट उठाकर प्रेमी की इच्छा पूर्ति के लिए इसीलिए प्रयत्न किया जाता है कि उसका संतोष अपने निज के संतोष का अविछिन्न अंग बन जाता है। प्रेमिका का रंग-रूप, वचन, व्यवहार सब कुछ इसलिए अनुपम लगता है कि उसके साथ आत्मीयता की मात्रा अधिक गहराई तक जुड़ गई है। यदि यह घनिष्ठता नष्ट हो जाए, तो वह प्रेयसी कुरूप ही नहीं शत्रु भी लगने लगेगी। कुछ समय पहले जिसे क्षण-क्षण में देखने को जी करता था मन में विद्वेष, परायापन उत्पन्न होने पर उसकी सूरत देखने और समीप आने पर घृणा उत्पन्न होती है।

अपनी प्रेयसी से भी अधिक सुंदर और सुयोग्य महिलाएँ संपर्क में आती हैं, पर उनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता और न उनकी ओर किसी प्रकार का आकर्षण होता है। इससे स्पष्ट है कि किसी की शारीरिक, मानसिक विशेषताएँ नहीं, वरन् उसके साथ आरोपित की गई आत्मीयता ही उसे सुंदर, आकर्षक, अनुकूल एवं परमप्रिय बना देती है। यह आत्मीयता हटते ही क्या प्राणी, क्या पदार्थ, सभी नीरस और निरर्थक लगने लगते हैं। इस संसार में जहाँ भी, जितनी भी सरसता अनुभव में आती है वस्तुतः वह अपनी आत्मीयता के

आरोपण की ही प्रतिक्रिया होती है। इस आरोपण के अनुपात से ही प्रिय-अप्रिय का स्तर बनता, बढ़ता और बदलता है।

प्रेम का एक गुण है दूसरों को प्रिय बना देना। उन्हें सरस एवं सुंदर अनुभव होने की स्थिति में ला देना। उसका दूसरा गुण है, दूसरों को अपना बनाकर उनके साथ आदान-प्रदान का द्वार खोल देना। पति-पत्नी सघन स्नेह संबंध में बँधने पर एक-दूसरे को केवल सुखद एवं सरस अनुभूतियाँ ही प्रदान नहीं करते, वरन् उनकी विशेषताओं और क्षमताओं का परस्पर आदान-प्रदान भी संभव हो जाता है। जो कुछ उनके पास होता है वे उसका लाभ प्रेम पात्र को उन्मुक्त भाव से, सहज रूप से देना आरंभ कर देते हैं। पति कमाता है और पत्नी के हाथ पर रखता है। पत्नी पाक विद्या, गृह, व्यवस्था, शृंगार-सज्जा आदि जिन विशेषताओं से युक्त होती है उसका लाभ पति को पहुँचाती है। वह आदान-प्रदान किसी शर्त समझौते के आधार पर नहीं, वरन् सहज स्वभाव ही होता रहता है। अपने लिए अपनी उपलब्धियों का लाभ जिस प्रकार लिया जाता है, ठीक वैसा ही साथी भी कर सके इसके लिए प्रयत्न किया जाता है। सच तो यह है कि अपनी उपलब्धियों को प्रेम पात्र के लिए समर्पित करना, उस समर्पण से प्रेमी का प्रसन्न, संतुष्ट होना और उस संतोष भरी प्रसन्नता की प्रतिक्रिया अपने आनंद के अनुरूप में अनुभव करना, इस प्रकार तीन चक्र वाली चरखी चलती है। अपने वैभव का स्वयं उपयोग करने पर जितना सुख मिलता था उसकी अपेक्षा साथी को उसका लाभ देने पर दूना आनंद होता है। प्रेम पात्र को प्रसन्न देखकर अपने को जो आनंद मिलता है वह चक्रवृद्धि दर से चौगुना हो जाता है। खाने की अपेक्षा खिलाने का आनंद अत्यधिक होने की बात कही जाती है वह निरर्थक नहीं है। उसमें पूरा-पूरा सत्य और तथ्य भरा हुआ है।

प्रेम को अमृत इसलिए कहा गया है कि वह जितने क्षेत्र में आरोपित होता है उतनी परिधि की हर वस्तु बड़ी सुंदर बन जाती

है। उसकी समीपता से अपने आनंद की मात्रा बढ़ती है। प्रेम पात्रों का अस्तित्व और वैभव अपनी निज की संपदा जैसा लगता है। उसी अनुपात से अपना गर्व गौरव और संतोष बढ़ता है। अपना निज का परिवार छोटा ही हो सकता है, अपनी निज की कमाई स्वल्प ही रह सकती है, किंतु यदि प्रेम भरी आत्मीयता का विस्तार व्यापक बना लिया जाए तो प्रतीत होगा कि अपनापन विस्तृत होने के कारण जितने क्षेत्र में फैला हुआ था उतने क्षेत्र पर अपना आधिपत्य हो गया। भावनात्मक क्षेत्र में आरंभ हुआ यह आधिपत्य स्व-संचालित आदान-प्रदान की पृष्ठभूमि बनाता है और अनायास ही सहयोग का अनुदान उपलब्ध होने लगता है।

विविध-विधि साधनाओं का भावात्मक मनोविज्ञान यही है कि जैसे देव शक्ति में अथवा समर्थ व्यक्ति में अपनी सघन श्रद्धा एवं आत्मीयता आरोपित करते हैं वह चेतना स्तर पर अपना घनिष्ठ-घनिष्ठतर-घनिष्ठतम बनता जाता है और उसकी विशेषताओं का प्रवाह अपनी ओर सहज ही बहने लगता है। समुद्र अपनी गहराई के कारण समस्त नदियों का जल अपनी ओर आकर्षित करता है और उनके अनुदान से अपना भण्डार निरंतर भरता रहता है। यही बात प्रेम साधक के संबंध में लागू होती है, उसकी प्रेम भावना उसे गहरा बनाती चली जाती है और इस स्थिति की पात्रता विकसित कर देती है कि दिव्य लोक के अजस्र अनुदान उसे अनायास ही मिलते जाएँ। चुंबकत्व जितना शक्तिशाली होता है उतने ही अधिक लौह कण उस क्षेत्र में से सिमट कर उसके साथ चिपकते चले जाते हैं। अध्यात्म क्षेत्र की चमत्कारी उपलब्धियाँ, ऋद्धि-सिद्धियाँ और कुछ नहीं अपनी ही प्रबल भाव भूमिका द्वारा अनंत अंतरिक्ष से खींची हुई उपलब्धियाँ मात्र हैं।

व्यावहारिक जीवन में हम नित्य ही देखते हैं कि पारस्परिक प्रेम केवल एक-दूसरे को परमप्रिय ही नहीं बनाता, वरन् सहयोग के अनेकानेक द्वार भी खोलता है। प्रेमी लोग एक-दूसरे की इतनी अधिक सेवा, सहायता करते हैं जितना कि कोई स्वयं अपने आप की

सहायता कर सकता है। इससे दोनों ही पक्ष लाभान्वित होते हैं। एक-दूसरे की कमी को पूरा करते हैं और अपूर्णता को पूर्णता में, दुर्बलता को समर्थता में, अतृप्ति को तृप्ति में बदलने की शिक्षा में एक-दूसरे के लिए वरदान जैसे सिद्ध होते हैं, पर यह सब संभव तभी होता है जब प्रेम भावना में सघन आत्मीयता का गहरा पुट लगा हो।

यदि कोई प्रेम बाजारू हुआ, कुछ लेने-झपटने के लिए आरंभ किया गया होगा तो बात बनेगी नहीं, प्रीति निभेगी नहीं, जहाँ स्वार्थ सधने में थोड़ी भी अड़चन दिखाई पड़ी अथवा उससे अच्छे कोई नए संबंध हाथ लगे तो वह नशा उतरते भी देर न लगेगी। उदासी उपेक्षा की ओर बढ़ते हुए कदम अवज्ञा और शत्रुता तक जा पहुँचेंगे। असफल प्रेम की गति दुखांत और निराशाजनक भी होती देखी गई है।

पेट भरने मात्र से मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती। उसमें जो सजग चेतना तत्त्व है वह भावनात्मक परिपोषण चाहता है। वासना, तृष्णा और अहंता की तृप्ति करने की उमंग और उसके लिए अभीष्ट साधनों को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य का अधिकांश चिंतन और कर्तृत्व नियोजित रहता है। पेट भरने और तन ढकने की आवश्यकता तो कम प्रयास से सामान्य शरीरश्रम से ही पूरी हो जाती है। उसके लिए कदाचित ही किसी को अभावग्रस्त रहना पड़ता हो। व्यग्रता एवं उद्विग्नता तो मानसिक क्षुधा को पूरा करने के लिए साधन जुटाने की ही रहती है। यह मानसिक भूखें या माँगें मध्यमवृत्ति के लोगों को विलास वैभव के लिए लालायित करती हैं, किंतु जब अंतःकरण का स्तर ऊँचा उठता है, तो प्रेम का अमृत पीने और पिलाने की एक मात्र साध शेष रह जाती है। प्रेम वृत्ति का विस्तार, प्रेमी की खोज, प्रेम का रसास्वादन इतनी ही परिधि में समस्त आकांक्षा, अभिलाषा केंद्रीभूत होकर रह जाती है।

काया असल है और छाया उसकी नकल। प्रेम असल है और मोह उसकी नकल। मोह में अहंता की पूर्ति प्रधान रहती है और प्रिय

पात्र को अपना वशवर्ती बनाने, आज्ञापालन के लिए प्रस्तुत रहने की इच्छा रहती है। उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया जाए और वह पूरी तरह अपना इच्छानुवर्ती होकर रहे, यही मोह की परिभाषा है। स्त्री, पुरुषों अथवा मित्र-संबंधियों से जब तक यह अपेक्षा पूरी होती है तब तक वे प्रिय लगते हैं, पर जब वे ननुनच करते हैं तो शत्रु प्रतीत होते हैं। अपनी माँग सही थी या प्रेमी का व्यवहार सही था यह सोचने का अवकाश नहीं रहता, किंतु उच्चकोटि के प्रेम में सिर्फ देने का ही भाव रहता है। 'लेना कुछ नहीं देना सब कुछ' जहाँ यह भावना अथवा रीति-नीति काम कर रही हो तो समझना चाहिए कि यहाँ असली प्रेमी का अस्तित्व है। लेने से इनकार और देने का आग्रह जहाँ होगा वहाँ राम, भरत जैसे स्नेह, सौजन्य का अमृत बरसेगा और आत्मीयता अधिकाधिक सघन होती चली जाएगी। वहाँ साथी की शिकायत करने की कभी भी आवश्यकता ही न पड़ेगी। शिकायत तो वहाँ की जाती है जहाँ कुछ लेने की, पाने की अपेक्षा रखी गई हो। जब केवल देना ही देना था, पाने की बात सोची ही नहीं गई थी तो उलाहना किस बात का, असंतोष किस कारण ? जहाँ देना कम, लेना अधिक का मोल-तोल चलता है, प्रेम में असंतोष और विद्वेष नहीं पनपता है। प्रेमियों के बीच लड़-झगड़ का केंद्र-बिंदु यही विष बीज रहता है।

निःस्वार्थ प्रेम पूर्णतया एक पक्षीय रह सकता है, निभ सकता है, सामने वाला पक्ष यदि अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त न करे तो भी प्रेम अंतःकरण की कोई क्षति नहीं होती, इससे उसे खिन्न, असंतुष्ट भी नहीं होना पड़ता। पाषाण प्रतिमा बनाकर मूर्ति-पूजा करने का आधार एक पक्षीय प्रेम का निर्वाह ही होता है। देव मूर्ति हमारी भावना के अनुरूप प्रत्युत्तर नहीं देती, वह मूक, मौन, स्तब्ध, निष्ठुर, निस्पृह बनी बैठी रहती है। इससे कोई उपासक खिन्न नहीं होता, वरन् अपनी पूजा-अर्चा निर्बाध विधि से चलाता रहता है। यही नीति प्रेम का प्रयोग करते समय हर क्षेत्र में अपनानी पड़ती है। माता अपने नवजात शिशु पर सारा प्यार उँड़ेलती है जबकि

अबोध बालक की मनःस्थिति तो दूर, शारीरिक क्षमता भी अविकसित अस्त-व्यस्त रहती है। वह बेचारा न तो माता के प्यार को समझ सकता है और न उसका प्रत्युत्तर- प्रतिदान दे सकता है। इतने पर भी माता को यह शिकायत नहीं होती कि बच्चे ने प्रेम का मूल्यांकन नहीं किया और बदला नहीं चुकाया। ठीक यही नीति प्रेमी हृदय को सर्वत्र बरतनी पड़ती है। वह प्रेम इसलिए करता है कि उसकी प्रतिध्वनि उसकी अंतरात्मा को दिव्य अमृत से ओत-प्रोत कर दे। इस लाभ की तुलना में प्रिय पात्र द्वारा दिया जा सकने वाला अनुदान तो राई-रत्ती जितना ही सिद्ध हो सकता है। प्रिय पात्र के समुचित प्रत्युत्तर न देने पर यदि प्रेमी को निराश होना पड़ा, खिन्न बनना पड़ा, तो समझना चाहिए कि वह प्रतिदान की अपेक्षा पर टिका हुआ घटिया दर्जे का लोक-व्यवहार मात्र था। ऐसे ही ओछे प्रेम को व्यामोह अथवा मोह कहा जाता है और उसका परिणाम अंततः निराशाजनक ही सामने आता है।

प्रेम की महानता आध्यात्मिक उपलब्धि कर सकने से ही आत्मा को संतोष, उल्लास एवं आनंद की तृप्तिदायक अनुभूति होती है। इसी को सबसे बड़ा लाभ कह सकते हैं। चेतना का सर्वोत्तम रस यही है। प्रेमानुभूति से बढ़कर मनुष्य जीवन का कोई उपार्जन और कोई रसास्वादन और कोई वरदान हो ही नहीं सकता। तत्वदर्शी मनीषियों ने प्रेम को ही परमेश्वर कहा है। वस्तुतः परमेश्वर इंद्रियों से देखा-जाना नहीं जा सकता, उसकी अनुभूति अंतरात्मा में ही होती है इसे जानना हो तो प्रेम का प्रयोग करके देखना चाहिए। इस आलोक की तनिक-सी किरणें अंतरात्मा को देवत्व की आत्मा से जगमगा देती हैं। जहाँ प्रेम का अस्तित्व होगा वहाँ संयम-सदाचार से लेकर उदार अनुदान तक की समस्त सद्भावनाएँ तथा सत्प्रवृत्तियाँ सहज ही समवेत होकर रहती हैं।

ईश्वर भक्ति एक व्यायाम प्रक्रिया है जिसके माध्यम से अंतःकरण को प्रेमी प्रकृति का बनाया जाता है। सूर्य का प्रकाश किसी छोटे दायरे में कैद होकर नहीं रह सकता वह सहज ही अनंत

अंतरिक्ष में सुविस्तृत होता चला जाता है। प्रेम अंतःकरण से आत्मीयता के विस्तार का आलोक भी इसी प्रकार अधिकाधिक व्यापक क्षेत्र में फैलता चला जाता है। उसका अपनापन शरीर और परिवार की सीमा से, वासना, तृष्णा और मलीनता की तुच्छता से बाहर निकलता है और संकीर्ण स्वार्थपरता के लोभ, मोह के भव-बंधनों को तोड़-फोड़कर आदर्शवादिता के उन्मुक्त आकाश में विचरण करता है। ईश्वर प्रेम की झाँकी विश्व प्रेम के रूप में मूर्तिमान होती है, भीतर की आस्था को बाहर भी प्रकट होना ही चाहिए, ईश्वर भक्ति का प्रमाण लोक-मंगल की सेवा साधना में परिलक्षित होना चाहिए।

ईश्वर विश्व-व्यापी सचेतन सत्ता का नाम है। उसके सत प्रधान अंश की हम उपासना करते हैं। जिसका प्रयोजन है, ईश्वरीय दिव्य तत्त्व को अपनी चेतना में पूरी तरह भर लेना। प्रेम की भक्ति की प्रक्रिया इस प्रयोजन को भली प्रकार पूरा करती है। ईश्वर प्रेम में सरावोर होकर हम उस चेतना को अधिक मात्रा में अपनी ओर आकर्षित करते हैं। तादात्म्य होने का परिणाम तद्रूप ही होता है। जो जिसके संपर्क में जितनी गहराई तक रहेगा, जो जिसे जितना अधिक चाहेगा वह उसी जैसा बनता चला जाएगा। सत्संग के सत्परिणामों की, कुसंग के दुष्परिणामों की यही मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। हम प्रेम तत्त्व को ईश्वर जैसे उच्च आदर्श के साथ समन्वित करके रखें, तो निश्चित रूप से उसी ढाँचे में ढलते चले जाएँगे और एक दिन ईश्वर तुल्य होकर रहेंगे।

कहना न होगा कि प्रेम तत्त्व मानव जीवन की महानतम विभूति है उसे अपने भीतर उगाने में बढ़ाने में जो जितना अधिक सफल हो जाता है वह उतना ही धन्य बनता है। इस प्रेम की पकड़ में पकड़ा हुआ समस्त संसार अपना बनता है, समस्त दिव्य तत्त्व करतलगत होते हैं, यहाँ तक कि ईश्वर भी अपना बन जाता है अथवा हम ईश्वर तुल्य हो जाते हैं। प्रेम की गरिमा को जितनी गहराई में

समझने का प्रयत्न किया जाए वह उतनी ही महान होती दिखाई पड़ेगी।

आध्यात्मिक उन्नति की अवस्था तथा ईश्वर प्राप्ति की अंतिम अवस्था भक्ति-प्रेम है। भक्ति का स्वरूप भी निःस्वार्थ प्रेम ही कहा गया है। इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि यह परमात्मा प्राप्ति के अन्य सभी साधनों में दिव्य एवं सुखद साधन है और उसका प्रत्येक साधन में समावेश होना चाहिए। वस्तु कितनी ही सुंदर क्यों न हो यदि उसके प्रति आकर्षण का भाव न हो, तो न उसकी प्राप्ति का प्रयत्न ही हो सकता है और न उस प्रयत्न में चिरस्थाई ही रहा जा सकता है। प्रेम का विकसित रूप ही आध्यात्मिक गुणों, श्रद्धा, भक्ति, विकास आदि के रूप में प्रकट होता है, पर ईश्वर उपासना में उसे किसी न किसी रूप में प्रकट होना आवश्यक है। इसके बिना उपासना अधूरी है, सच्ची भक्ति तो प्रेम और परमात्मा का प्रकट स्वरूप है।

प्रेम ईश्वर प्राप्ति की साधना की कसौटी है जिसमें तपकर जीव विशुद्ध बनता है और ब्रह्म में मिलने की स्थिति को प्राप्त करता है। जीव और परमात्मा के बीच जो तादात्म्य है वह अपने शुद्ध रूप के द्वारा ही प्रकट होता है। प्रेम न होता तो पृथ्वी पर लोगों को आध्यात्मिक तत्त्वों की अनुभूति भी न होती। यह स्थिति प्रारंभ में आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए विकलता विरह के रूप में प्रकट होती है, पर जिसने स्वाभाविक रूप में वह स्थिति प्राप्त करना अपने जीवन का उद्देश्य मान लिया हो तो उन्हें भी प्रेम का अभ्यास करना पड़ता है। तप, त्याग और सुख की इच्छाओं का दमन कर अंतःकरण में प्रेम वृत्ति को जागृत करना पड़ता है।

प्रेम जो मनुष्य का मनुष्य के साथ संबंध स्थापित करता है उसे उसकी सत्ता के मूल स्रोत में पहुँचा देता है। जो वस्तु मनुष्य-समाज को धारण किए रखती है उसके विकास और नैतिक उत्कर्ष में सहायता देती है वह प्रेम ही है यदि मनुष्य, मनुष्य के बीच प्रेम का आदान-प्रदान न रहा होता और मानव जाति का प्रगति के मूल

में प्रेम का प्रेरक भाव न होता तो नैतिक क्षेत्र में उसने कोई भी उन्नति न की होती।

मनुष्य विकास क्रम में सृष्टि के अन्य जीवों की अपेक्षा बहुत पीछे है। संसार के अन्य प्राणियों में जो नैतिक मर्यादाएँ रखी जाती हैं, वे ईश्वर प्रदत्त होती हैं। यदि उनके जीवन में प्रेम परिपालन न रहा होता तो उनकी सारी नैतिक मर्यादाएँ भंग हो गई होतीं। स्वार्थ या छल कपट की अधिकता वाले प्रदेशों में आज भी इस सिद्धांत को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

प्रेम विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली सत्ता है उसी के आधार पर मनुष्य समाज जीवित है यह न होता तो मनुष्य बड़ा दरिद्र एवं अविकसित रहा होता। उसे केवल अपना ही ध्यान रहा होता, अपने स्वार्थों की फिक्र रही होती, अपने ही सुख सुहाए होते तब न तो उसे समाज-सेवा के लिए प्रोत्साहन मिला होता न व्यक्तिगत जीवन में पराक्रम करने की प्रेरणा मिली होती। प्रेम की शक्ति का साम्राज्य आज सुव्यवस्थित और सुनियोजित विश्व के रूप में देखने को मिल रहा है।

प्रेम के बगैर मनुष्य मुर्दा है। जब मनुष्यों में प्रेम का अभाव होगा तो कोई आकर्षण भी किसी चीज के लिए न होगा और जब आकर्षण न होगा तो क्रिया न होगी, तो यह सारा संसार नीरस, उदासीन और जड़वत् हो जाएगा। इसलिए प्रेम ही जीवन है।

ईश्वर-उपासना में इस उदात्त भावना का दर्शन संसार के सभी धर्मों में पाया जाता है। भगवान को भी प्रेममय समझकर, प्रेममार्ग द्वारा उनकी साधना, सभी देशों के भक्तों एवं साधकों में देखी जाती है। उपनिषद् में भगवान् को "मधुब्रह्म कहा है, यह उसका विशुद्ध प्रेममय स्वरूप ही है। परमात्मा प्रेम द्वारा ही मधुर होता है—"मधुक्षरंतिद्ब्रह्म" जिससे मधु अर्थात् प्रेम प्रकीर्ण होता है वही ब्रह्म है, अपने इसी रूप में वे भक्ति के लिए, आराधक के लिए पुत्र, धन, आत्मीय, स्वजन—आदि से बढकर प्रियतम हो जाते हैं।

महापुरुष ईसा का कथन है—"प्रेम ही परमेश्वर है।" संत इमर्सन की वाणी है—"परमात्मा का सारतत्व प्रेम है।" सभी ईसाई संतों ने भगवान् की साधना, आनंद, मधुमय एवं प्रेममय रूप में ही की है।

सेंट टेरसा नामक पाश्चात्य साधिका ने लिखा है—"परमात्मा के प्रति प्रेम होता है तभी सच्ची उपासना बन पड़ती है। आत्मा के उत्थान की यह प्रारम्भिक अवस्था है। अंत में जीव और ब्रह्म का प्रणय संस्कार होता है, तो दोनों एक-दूसरे में आत्मसात् हो जाते हैं। न जीव रहता है और न परमात्मा, केवल प्रेम ही शेष रह जाता है जो ब्रह्म के समान सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान दिखाई देता है।

मुसलमानों में सूफी संतों की प्रेममयी भक्ति-धारा बहुत प्रसिद्ध हुई है। इन संतों ने परमात्मा की उपासना प्रियतमा (माशूक) के रूप में की है और जीवात्मा को प्रेमी, आशिक के रूप में माना है। इस प्रेम भक्ति का सुंदर प्रवाह जायसीकृत 'पद्मावत' में भली-भाँति देखने को मिलता है। जलालुद्दीन भक्त बड़े प्रेमी संत हुए हैं उन्होंने लिखा है, "तुम्हारे हृदय में परमात्मा के लिए प्रेम होगा तो उसे भी तुम्हारी चिंता अवश्य होगी।"

जिस प्रेम-शक्ति का संतों, अध्यात्म-तत्ववेत्ताओं ने इतना समर्थन किया है वह मनुष्य जीवन में अवतरित होकर किस प्रकार उसे ब्रह्म की ओर विकसित करती है, यह जानने योग्य है। लोगों के अंतस् में अनेक बुरी वृत्तियाँ हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, कुसंगति, चोरी, व्यसन आदि। इन्हें जीतने और दूर करने का प्रयास जीवन भर करते रहते हैं तो भी वे दूर नहीं हो पातीं। मन स्वभावतः कुमार्गगामी होता है और वह किसी भी नियम-बंधन को मानने के लिए तैयार नहीं होता। ऐसी अवस्था में लोग यह मानकर निराश हो जाते हैं कि इन बुराइयों से बचने का कोई उपाय नहीं है, पर यदि मनुष्य के अंतःकरण में प्रेम जाग्रत हो सका तो उसे उन्हें जीतने में कोई कठिनाई नहीं होती। प्रेम के

लिए कुछ उत्सर्ग करने में या अभावग्रस्त जीवन जीने में तो आनंद है। मनुष्य का मन प्रेम का गुलाम है। प्रेम की शक्ति के सहारे उसे जिस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया जाए वह उसी पर चलने के लिए तैयार हो जाता है, प्रेम ही मानव जीवन के उत्थान का यह आध्यात्मिक रहस्य है।

असीम सुख की प्राप्ति के लिए प्रेमी अपने आपको घुलाता है और इसमें उसे एक अनिर्वचनीय तृप्ति मिलती है। प्रेम का वास्तविक स्वरूप अपने आपको प्रेमी के प्रति आत्मोत्सर्ग करना ही होता है। इसका उदात्त रूप बच्चे के प्रति माता के वात्सल्य में दीख पड़ता है। प्रेमवश माता बच्चे के ध्यान में अपने आपको बिलकुल विस्मृत कर देती है। उसे अपनी सुख-सुविधा, विश्राम निद्रा और भूख प्यास की कोई सुध नहीं रहती।

इस उपासना में ऐसा प्रेम जाग्रत करने के लिए, इष्टदेव से मिलने के लिए तीव्र और अदम्य इच्छा जाग्रत करनी चाहिए। साधारण मनुष्य के प्रेम में जब लोग इतने विभोर हो जाते हैं तो ईश्वर के प्रेम में ऐसा क्यों न होना चाहिए, पर इसके लिए हमें भी त्याग और बलिदान के लिए उसी भावना से तैयार रहना चाहिए, जिस प्रकार अपने प्रेमास्पद का सुख देखने को तरसते हैं और उसके सामने अपनी विद्या, बुद्धि, धन-संपत्ति, पद, यश सबको तुच्छ मान लेते हैं।

हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि परमात्मा के शुद्ध प्रेम के लिए अपने आपको अपनी आत्मा को, अपने बच्चों, अपनी धर्मपत्नी, घर, गाँव, समाज, राष्ट्र और संपूर्ण मानव भाईयों के प्रति विकसित करना चाहिए। यथाशक्ति उसकी सेवा और त्याग भावना द्वारा निष्काम प्रेम, वासना और कामना रहित प्रेम बढ़ाना चाहिए। इस विकास के मार्ग पर जितना अपना अहं भाव नष्ट होता जाएगा, हम उतना ही परमात्मा की सत्ता में समाते चले जाएँगे, इसी प्रेम अभ्यास में परम पिता परमात्मा का द्वार प्रेमी भक्तों के लिए सदैव ही खुला रहता है।

जो चैतन्य सत्ता इस स्थूल संसार का धारण-पोषण कर रही है, जो आत्म रूप में सबमें व्याप्त है, वह प्रेम ही है। व्यष्टि और समष्टि में आत्मा का वह प्रेम प्रकाश ही ईश्वर की मंगलमयी रचना का संदेश दे रहा है। जब मनुष्य आत्मा के उस प्रेम प्रकाश का अवलबन लेता है तभी वह संसार को आनंद और सुखों का घर मानने लगता है और तभी उसे सच्चा सुख मिलता है। प्रेम ही आत्मा का प्रकाश है। जो इस प्रकाश में जीवन-पथ पर अग्रसर होता है; उसे संसार शूल नहीं फूल नजर आता है, दुखों का घर नहीं, वरन् स्वर्ग मालूम होता है।

प्रेम ही एक प्रकाश है जिसका अवलंबन लेकर मनुष्य इस संघर्षमय संसार में जीवन यात्रा को सफल कर सकता है। प्रेम ही जीवन की सर्वोच्च प्रेरणा है। अन्य प्रेरणाएँ अंधकार की जनक हैं प्रेम-प्रेरित कर्मों से संसार की रचना होती है अन्य तो उसके विनाश और बुराई बढ़ाने का कारण बनते हैं। जीवन को समृद्ध बनाने, परम ध्येय की मंजिल तक ले जाने का एक ही रास्ता, एक ही नियम है वह है, प्रेम। आत्मा का प्रकाश प्रेम है, वह प्रभु का विधान मंगलमयी सृष्टि के लिए है। जो इसे जीवन में प्रधानता देता है उसके लिए संसार ही स्वर्ग है, प्रभु का मंदिर है, जीवन-क्रीड़ा सुंदर उद्यान है।

प्रेम का लक्ष्य प्रेम स्वरूप की प्राप्ति के लिए है, किंतु हम तो जो कुछ कर रहे हैं सब अपने लिए अपने अहम् की तुष्टि के लिए, स्वार्थ के लिए जिस काम में हमारा स्वार्थ सधता हो वही काम तो हमें अच्छा लगता है। अपनी भूख, शांति-रक्षा, साज-सामान को इकट्ठा करने के लिए ही तो हमारी सारी कार्य प्रणाली चल रही है, किंतु यह सब तो सौदेबाजी, लेन-देन का कार्य है जिसका उद्देश्य कुछ पुरस्कार प्राप्ति ही है। यह तो दुनियाँ का साधारण नियम है। प्रेम का नियम इससे बिल्कुल भिन्न है। प्रेम सौदा नहीं है प्रेम कुछ पाने की इच्छा से नहीं किया जाता बल्कि देने की भावना से किया जाता है। प्रेम पुरस्कार नहीं लेता, बदला नहीं चाहता, प्रेम दान का

नियम है जो निरंतर देता रहता है, यदि लेता है तो केवल प्रेम ही। प्रेम की पूर्ति प्रेम से होती है। स्वतः कृतार्थ होने के लिए प्रेम किया जाता है। प्रेम, प्रेम के लिए कीजिए, किसी स्वार्थ, लेने की भावना से नहीं। कुछ भी आपके पास है उन्मुक्त भाव से लुटाते रहिए प्रेम के लिए।

प्रेम किन्हीं सीमा, मर्यादा, समय, रूप-रंग, जाति, वर्ण आदि के नियमों में बँधा नहीं रहता। वह हर समय एकरस, अचल, सबके लिए होता है। यह प्रेम साधना का दूसरा नियम है। हम किसी से सुबह प्रेम करें और शाम को न करें यह धोखा है। मंदिर में आँसू बहाने वाला प्रेम यदि दुःखी-क्लांत भाइयों को देखकर द्रवित न हो तो वह प्रेम नहीं ढोंग है। दूसरों का खून करने वाला व्यक्ति यदि अपने घर के सदस्यों से प्रेम करे, तो वह प्रेम नहीं स्वार्थ है, भोग है। दूसरों के बच्चों से कटु व्यवहार करने वाले माँ-बाप अपने बच्चों से प्रेम नहीं कर सकते। दूसरों के साथ धोखेबाजी, चालाकी, कूटनीति, छल-कपट बरतने वाले व्यक्ति किन्हीं से प्रेम करें यह कठिन है। सच्चा प्रेम वह है जो घर-बाहर, मंदिर, मस्जिद, समस्त जाति-वर्ण में एक रस, एक समान व्याप्त होकर हमारी नस-नस में समा जाए और जीवन का अंग बन जाए। वही प्रेमी कहलाने का अधिकारी है। यदि इस कसौटी पर उतरने वाले प्रेम-पूजकों की संख्या बढ़ जाए तो यह धरती ही स्वर्ग बन जाए।

प्रेम आत्मा का सहज प्रकाश है जो प्रत्येक जीवन में स्थित है। उसे प्राप्त करने के लिए धन, दौलत कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। प्रेम का अथाह समुद्र हमारे चारों ओर, बाहर-भीतर उमड़ रहा है, केवल आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी हृदय नगरी में जो मल, विक्षेप, अहंकार, स्वार्थ, पद-प्रतिष्ठा आदि भरे पड़े हैं, उन्हें निकालकर इस प्रेम समुद्र का मधुर अमृत भर लें। यह एक सहज और स्वाभाविक क्रिया है, किंतु खेद है मनुष्य की अमीरी, उसकी पद-प्रतिष्ठा, अहंकार इस सहज को सफल नहीं होने देते। यदि हमें प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करना है तो इन

बनावटी चालों का त्याग करना होगा। पीड़ित मानवता में, दीन-दुःखी भाइयों में, अन्य जीव पशु-पक्षियों के बीच हृदय खोलकर आना होगा उन्हीं की पंक्ति में खड़ा होना होगा। यहाँ कोई निर्बल-सबल, गरीब-अमीर, ऊँच-नीच नहीं है। प्रभु के सब समान पुत्र हैं। हमें हृदय खोलकर सारे भौतिक आवरणों को दूर उतारकर प्राणीमात्र से प्रेम करना है। सबके साथ सहानुभूति सहयोग करके अपना कर्तव्य निभाना है। प्रेम सारे भौतिक आकर्षणों से ऊपर रहता है, इनका त्याग किए बिना सच्ची प्रेम साधना संभव नहीं हो सकती।

महात्मा गाँधी एक कोढ़ी की स्वयं पट्टी आदि करते थे अपने हाथों से घाव धोते थे, जबकि अन्य लोग दूर भागने का प्रयत्न करते थे। ईसामसीह, चैतन्य महाप्रभु, राम, कृष्ण आदि महापुरुषों के जीवन आज भी उनकी प्रेम साधना के ज्वलंत उदाहरण हैं। उनके हृदयों से प्रेम की भागीरथी निरंतर बहती रही जिसमें प्राणिमात्र ने अपने आपको कृतार्थ किया। वहाँ कोई भेद-भाव नहीं था। इस तरह जिसके हृदय में प्रेम का अखण्ड दीप जलकर रहे, वस्तुतः वही सच्चा प्रेम है। महर्षि रमण मनुष्यों से ही नहीं प्राणिमात्र से प्रेम करते थे। साँप, बिच्छू, पशु, बंदर, सिंह आदि उनके पास परिवार के सदस्यों की तरह आया करते थे और महर्षि उन्हें बड़े प्यार से खिलाया-पिलाया करते थे। प्रेम सर्वत्र व्याप्त है, किंतु मनुष्य ने भेद-भाव, स्वार्थ, अहंकार, राग-द्वेष का जो रंगीन चश्मा चढ़ा रखा है, इसी के कारण उसके दर्शन नहीं हो पाते और इसीलिए वह रात-दिन दुःखी व्याकुल नजर आता है।

प्रेम के लिए अपने आपको उत्सर्ग करने वाला जीवन ही वस्तुतः जीवन कहलाने का अधिकारी है। जीवन में सभी कुछ बदलता रहता है। अवस्था, विचार, परिस्थितियाँ मनुष्यों का विश्वास यहाँ तक कि यह देह भी बदलती है। इस परिवर्तन प्रधान संसार में यदि अजर-अमर रहता है तो वह है प्रेम।

प्रेम का मूल्य बलिदान से चुकाया जाता है। महात्मा गाँधी ने देश से, मानवता से प्रेम किया था और अंत में इसी के लिए अपने आपको बलिदान किया। देश प्रेम के मतवाले राणा प्रताप अरावली की पथरीली घाटियों में भूखे-प्यासे फिरते रहे। धर्म से प्रेम करने वाले तेगबहादुर, गुरु गोविंदसिंह के बच्चों ने मुगलों के हाथों सहर्ष अपना बलिदान स्वीकार किया था। आजादी और देश के अनेक मतवालों ने शूली, फाँसी, गोली, तोपों को सहर्ष स्वीकार किया था। ऐसे प्रेम-पथिकों की भारत में साथ ही विदेशों में भी कमी नहीं रही, जिन्होंने अपने विश्वास, ध्येय, उद्देश्य, लक्ष्य आदि के लिए प्रेम किया, अपने को जीवित ही तिल-तिल मिटाया और इसी के लिए सहर्ष बलिदेवी पर चढ़े।

अपने आराध्य के प्रेम में मतवाली मीरा गाती थी—

ऐ री मैं तो प्रेम दीवानी मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की किस विधि मिलना होय।।

प्रेम के मार्ग में बेशक काँटे बिछे हुए हैं, किंतु जब प्रेमी उन काँटों को अपने प्रेम स्वरूप के लिए फूल मानकर आगे बढ़ता, उन्हें अपने प्रेमी के लिए दिल से लगाता है तभी मीरा का जहर अमृत बन जाता है, गाँधी जी को लगी गोली उनके अमर जीवन का कारण बन गई। भटकते हुए प्रताप मेवाड़ के मुकुट बन गए। कृष्ण-प्रेम के मतवाले अंधे सूरदास, राम-प्रेम के मतवाले तुलसीदास आज घर-घर मानव-हृदय में मूर्त रूप में विराजमान हैं। जब प्रेम काँटों पर चलकर भी मतवाला दृढ़ स्थिर बना रहता है, तभी उसका वास्तविक स्वरूप निखरता है, जो इन विपन्नताओं में परीक्षाकाल में भी प्रेम-पथ पर अंतिम सिद्धि तक पहुँच जाता है। असफलताओं में जो स्थिर रहे वही जीवित है।

सत्य की उक्त कसौटियों पर अपनी प्रेम साधना के पथ पर आगे बढ़िए, तुच्छ स्वार्थों, आकर्षणों, लेन-देन के लिए प्रेम शब्द का दुरूपयोग और उसको कलंकित मत कीजिए। उन्मुक्त भाव से प्रेम कीजिए समस्त मानव-जाति से, प्राणीमात्र से, समस्त वसुधा से।

प्रेम में गरीब-अमीर, ऊँचा-नीचा, मेरा-तेरा, भाषावाद, प्रांतीयता, जाति-पाँति आदि का कोई स्थान नहीं है। इन संकीर्ण बंधनों को तोड़कर जब आप प्रेम-पथ पर अग्रसर होंगे तभी उस विश्व प्रेम स्वरूप का पुण्य साक्षात्कार संभव हो सकेगा। ज्योतिर्मयी आत्मा के पुण्य प्रकाश में प्रेम का अवलंबन कीजिए और जीवन लक्ष्य की ओर अग्रसर होइए।

'यह संसार नश्वर है महात्मन् ! मुझे तो इसमें कुछ भी सार नहीं दिखाई देता। अब तो बस ईश्वर को पाने की इच्छा है। आप मुझे दीक्षा देकर ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखाएँ।' यह कहते हुए एक नवयुवक ने आचार्य रामानुज को प्रणाम किया और उनके समीप ही एक ओर बैठ गया।

आचार्य रामानुज ने सीधा-सा प्रश्न किया—"तुमने किसी को प्रेम किया है ?' युवक ने उत्तर दिया—'मेरा तो किसी से भी प्रेम नहीं है, मेरा तो संसार से कोई राग ही नहीं है। किससे प्रेम करूँ, मैं तो भगवान को पाना चाहता हूँ।"

'लेकिन तात !' आचार्य रामानुज बड़ी मीठी वाणी में बोले—'भगवान को पाने की तो एक ही कसौटी है, प्रेम। जिसके हृदय में प्रेम नहीं, वह ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रेम यदि सांसारिक है, तो उसे शुद्ध किया जा सकता है, पर जिसने प्रेम की कसक अनुभव नहीं की, वह भला परमात्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ? सो मैं विवश हूँ तुम्हें दीक्षा कैसे दे सकता हूँ।'

आचार्य रामानुज जैसे महान् अध्यात्मवादी के मुख से प्रेम को परमेश्वर के समकक्ष ले जाना कोई आश्चर्य नहीं है। वस्तुतः संसार में यदि कुछ अपार्थिव है, तो 'प्रेम' ही है। यदि प्रेम काम में परिणत नहीं किया जाता, तो मनुष्य धरती पर रहते हुए भी आलौकिक सुख और ईश्वरत्व की अनुभूति कर सकता है, क्योंकि शुद्ध प्रेम ही तो परमेश्वर है।

'मैं तो प्रेम दीवानी'—कहकर मीरा नाचती थी। वहाँ कोई शरीरधारी तो होता नहीं था, पर उस प्रेम की प्राणसत्ता में ही उसे

परमेश्वर की झाँकी मिलती थी, मीरा की सखियाँ पूछतीं—'मीरा ! तू बाबरी हुई है। अपना सब कुछ छोड़कर भटक रही है। ऐसा निष्ठुर है तेरा भगवान कि वह तो कभी तेरे पास भी नहीं आता।' सखी के इतना कहने पर मीरा नाराज होकर कहती—'सखी री मेरे संग-संग नाचै गोपाल।' सखियाँ नहीं जानती थीं, पर मीरा जानती थी कि उस दिव्य प्रेम की डोर से ही वह उस अविनाशी सत्ता को बाँधे हुए है। भगवान उसके प्रेम में ही ओत-प्रोत उसके आस-पास चक्कर काटता था। मीरा जैसे ही नाचती थी, वह वैसे ही नाचता था।

संसार में प्रेम ही सच्चा अध्यात्म है। प्रेम ही अविनाशी है और प्रेम ही परमार्थ है। धन की आवश्यकता सांसारिक होती है, तो भी स्त्री, पुरुष, मित्र भी स्वार्थ, सहयोग और सेवा-प्राप्त की अनेक कामनाओं से प्रेरित होकर बनाए जाते हैं, पर प्रेम में तो इन सब प्रतिबंधों की अवहेलना है। संसार में एक ही तत्व है प्रेम, पुष्टि और विकास के लिए मनुष्य देना सीखता है और कितना भी दे डालकर देते रहने की कामना करता रहता है। अपने लिए न चाहकर किसी और के लिए निरंतर देते रहने में कितना सुख है यह तो वही जानता है जो एक प्रेम की परितृप्ति के लिए स्वयं भिखारी और अनाथ तक हो जाने के लिए तैयार रहता है। भगवान को भी ऐसे ही पाया जाता है। सही बात तो यह है कि परमात्मा को प्राप्त करने की आकांक्षा प्रेम सरोवर में सरावोर हो जाने की आकांक्षा का पर्याय भर है।

प्रेम प्रकृति को जीतने का वैज्ञानिक विधान है। महात्मा गाँधी कहा करते थे, "जिस प्रकार एक वैज्ञानिक प्राकृतिक नियमों का विभिन्न प्रकार से उपयोग करके अनेक चमत्कार कर देता है, उसी प्रकार व्यक्ति प्रेम के सिद्धांत की भी वैज्ञानिक विधि से प्रयोग की प्रणाली जान ले, तो वह वैज्ञानिक से भी अधिक चमत्कार पैदा कर सकता है। मेरी अपनी अहिंसा की शक्ति प्राकृतिक शक्तियों से कहीं बढ़-चढ़कर सूक्ष्म और कोमल है। वह प्रेम की भावना ही का तो

विकास है। मैं इस सिद्धांत की गहराई में जितना अधिक प्रवेश करता चला जाता हूँ, मुझे लगता है कि मेरे अंदर उतनी शक्ति बढ़ती चली जाती है। मैं जीवन और सारे संसार की योजनाओं में उतना ही आह्लाद अनुभव करता हूँ। प्रेम के सिद्धांत ने मुझे प्राकृतिक रहस्यों को समझने की जो शक्ति दी है, उससे मुझे अकथ और अवर्णनीय शांति मिलती है।"

यह एक नया उदाहरण नहीं है। प्रेम के लिए तो प्रकृति का पत्ता-पत्ता प्यासा है। एक ओर अपूर्णता में अशांति तो दूसरी ओर पूर्णता में शांति और स्वर्गीय सुख की अनुभूति। यह बताते हैं कि प्रेम में ही स्वर्ग और ईश्वर विराजते हैं। किसी को ईश्वर प्राप्ति का उपाय खोजना हो, तो उसे एक बार अंतःकरण में शुद्ध प्रेम जागृत करके देख लेना चाहिए।

भारतीय धर्म और संस्कृति या वेदांत जिस अद्वैत धर्म का प्रतिपादन करता है, उसको समझने के लिए प्रेम से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है। प्रेम अद्वैत का बोध कराता है। यह एक बलिदान भाव है, उसमें आत्मोत्सर्ग का ही सुख है। किसी से प्रेम है, ऐसा मान लेने भर से तुष्टि तो नहीं हो जाती। उसे देखने से और बार-बार पास आने से सुख तो अपार मिलता है, पर कोई ऐसा सदैव तो नहीं कर सकता। भगवान के प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए भी चंदन, रोली, पुष्प, अर्घ्य, आचमन का दान देते हैं, तो अपने प्रेमास्पद के लिए भी तो उपहार जुटाने पड़ते हैं। बहुत करके भौतिक वस्तुएँ ही देने जाते हैं, तो उससे इस रस की अनुभूति होने लगती है। देने वाला यह नहीं देखता कि मेरा कुछ गया और पाने वाले को भी यह नहीं हुआ कि वह वस्तु उसे मिल ही जाती। आदान-प्रदान तो अभिव्यक्ति मात्र थे। सच बात तो यह है कि दोनों ही को अपने भीतर के उस रस के पोषण की चिंता थी, जो प्रेम के रूप में उदय हुआ। इसी का नाम तो अद्वैत है कि हम सब एक-सा ही अनुभव करें। प्रेमी की संतुष्टि भी यही

मिलन है, जो वस्तुओं का नहीं, शरीर का भी नहीं, प्रेम, प्रेम की भावना का एकाकार मात्र होना है।

मनुष्य-जीवन की महानतम् कसौटी है—प्रेम। बुद्धि की सूक्ष्मता और हृदय की विशालता का परिचय प्राप्त करना हो, तो यह देखना पड़ता है कि व्यक्ति के हृदय में प्रेम की अकुलाहट के लिए भी कोई स्थान है। जिस हृदय में प्रेम का प्रकाश जगमगाता है, वह मनुष्य उत्कृष्ट होता है और उसे ही देवत्व की प्राप्ति का सौभाग्य मिलता है। प्रेम मनुष्य-जीवन की सर्वोदय प्रेरणा हैं, शेष सब आश्रित और स्वार्थ-प्रेरित भाव हैं। स्वाधीनता और सद्गति दिलाने वाली आंतरिक प्रेरणा तो प्रेम ही है। इसी से व्यक्तियों के जीवन समृद्ध होते हैं। आत्म-भावना और परमार्थ का विकास होता है। कला-कौशल का वर्तमान विकसित रूप और संसार की रचना प्रेम के वरदान हैं। मानव-जीवन के लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति की पूर्ति भी प्रेम से ही होती है। भक्ति मार्ग का आधार प्रेम ही है।

❐ ❐

आत्म-विकास के लिए भक्तियोग की साधना

ज्ञानेंद्रियों के आधार पर हमारी अंतःचेतना सुख, दुःख, काम, क्रोध आदि अनुभव करती है। इस चेतना को ही मन कहते हैं। मन को और अधिक स्पष्ट करें तो उसे विविध अनुभूतियों के आधार पर बनी हुई मानवी चेतना कह सकते हैं जो इतनी समर्थ भी होती है कि जिन कोशों की एकत्रित अनुभूतियों ने उसका निर्माण किया है उन पर नियंत्रण भी रख सके। मस्तिष्कीय चेतना के विविध पक्षों को प्रभावित, नियंत्रित और प्रोत्साहित कर सकने में समर्थ होने के कारण मन को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, उसे ही उत्थान पतन का कारण माना गया है और उसे ही शत्रु मित्र की संज्ञा दी गई है। परिष्कृत और सुव्यवस्थित होने पर वह सचमुच मित्र का काम करता है और व्यक्तित्व को प्रतिभाशाली, सम्मानास्पद, संतोषप्रद बनाने के साथ-साथ भौतिक और आत्मिक प्रगति का पथ-प्रशस्त करता है। इसके विपरीत यदि वह अस्त-व्यस्त एवं असंस्कृत हो तो फिर वह दूसरों के लिए ही नहीं अपने लिए भी एक संकट सिद्ध होता है। दुष्प्रवृत्तियों से ग्रस्त मन वाला मनुष्य सबकी दृष्टि में अविश्वस्त और अप्रमाणिक रहता है। अपने आपके लिए भी वह विक्षोभ और असंतोष ही उत्पन्न करता है। ऐसे व्यक्ति पग-पग पर असफल और तिरस्कृत होते रहते हैं, ऐसी विषम परिस्थिति में धकेल देने वाले मन को यदि शुद्ध कहा जाए तो उसमें कुछ भी अत्ययुक्ति नहीं है।

मस्तिष्क की भौतिक संरचना से ऊपर उठकर यदि उसकी चेतनात्मक संरचना का विवेचन किया जाए तो उसे तीन भागों में बाँटना पड़ेगा—(१) भावनात्मक (२) क्रियात्मक (३) ज्ञानात्मक। यों हर काम में इनमें से एक का बाहुल्य रहता है, पर उसका समुचित समन्वय हर काम में रहना चाहिए अन्यथा वह कार्य भोंडा और

बेतुका दीखने लगेगा और उस कार्य का वह परिणाम न निकलेगा जो संतुलित स्थिति में निकल सकता था।

भावना का आवेश मनुष्य को विक्षिप्त जैसी स्थिति में पटक देता है। प्रेम श्रद्धा आदि भावनाओं का रंग कई बार ऐसा चढ़ जाता है कि बिना समझे-परखे और आगे की बात सोचे अपने प्रेमी या श्रद्धास्पद पर सब कुछ निछावर कर देने का आवेश छाया रहता है। यदि प्रेम या श्रद्धास्पद उपयुक्त हुआ तो ठीक अन्यथा इस आवेश में खतरा ही खतरा है। भोली लड़कियों को कितने ही दुराचारी इसी प्रेम जाल में फँसाकर उनका भविष्य हर प्रकार से अंधकारमय बना देते हैं। अंधश्रद्धा के चंगुल में फँसे हुए देवी-देवताओं अथवा संत महंतों के माध्यम से इतनी क्षति उठाते हैं जो यदि सही दिशा में विवेक पूर्वक उठाई गई होती तो उससे अपना और दूसरों का बहुत बड़ा हित साधन होता।

अनियंत्रित भावनाएँ यदि कुमार्गगामी हो जाएँ तो पूरी विपत्ति बनकर ही सामने आती है। कामांध, क्रोधांध, मोहांध न जाने क्या न करने लायक कर बैठते हैं और पीछे पछताते हैं। पेशेवर हत्यारों की बात छोड़ दें तो सामान्य हत्याएँ और आत्महत्याएँ क्रोधांध स्थिति में ही होती हैं। उस समय विवेक पूर्णतया नष्ट हो जाता है और आवेश इस कदर मस्तिष्क पर छा जाता है कि परिणाम का, औचित्य का विचार कर सकने की गुंजायश ही नहीं रहती और तनिक से कारण को लेकर आवेशग्रस्त व्यक्ति हत्या या आत्महत्या कर बैठता है। पीछे जब वह बुखार उतरता है तो दूसरों की तरह स्वयं ही अपने आपको धिक्कारते ही बनता है।

भावनाओं का स्तर परिष्कृत हो तो मनुष्य संत, सज्जन, दयालु, परोपकारी, सहृदय, उदार जैसी सत्प्रवृत्तियों से सुसंपन्न होकर देवोपम जीवन जी सकता है और महामानवों की पंक्ति में खड़ा होकर ऐसे आदर्श उपस्थित कर सकता है जिससे असंख्यों को चिरकाल तक प्रेरणा मिलती रहे। सद्भावना संपन्न अंतःकरण स्वयं संतुष्ट रहता है और उसके समीपवर्ती शांति और शीतलता अनुभव करते हैं।

भावनाओं का संतुलन उन्हें आवेशों से मुक्त रखकर सत्पथगामी बनाए रहकर, मन का सच्चे अर्थों में सदुपयोग है, जो इसे कर सकें वे मनस्वी कहलाते हैं और उस मनोबल के कारण अपने और दूसरों का भारी हित साधन करते हैं।

मनःचेतना का क्रिया पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शरीर के द्वारा मस्तिष्क के द्वारा जो कुछ किया जाता है उसी के फलस्वरूप भली-बुरी उपलब्धियाँ सामने आती हैं। परिणाम फल-फूल हैं और उन पौधों के बीच हैं कर्म। अक्सर भले-बुरे परिणामों का कारण दूसरे लोगों या कारणों को समझा जाता है। इसमें बहुत थोड़ी सच्चाई है। वास्तविकता यह है कि अपनी खामियों के कारण परिस्थितियों का पास उलटा पड़ जाता है, जिसका व्यवहार अनुकूल रह सकता था उनका प्रतिकूल हो जाता है। काम को पूरे मन से न करना, उसे खराब करने के बराबर है। लापरवाही से, अन्यमनस्क होकर कुछ किया जाए उससे तो न करना अच्छा। मनोयोग के अभाव में क्रिया त्रुटि पूर्ण रह जाती है और तत्काल एक काम पूरा किया गया दीखने पर भी परोक्ष रूप से उसमें इतनी कमी रह जाती है कि जिसके कारण उसे न करने से भी अधिक अपनों को या दूसरों को हानि उठानी पड़े।

क्रिया पक्ष यह चाहता है कि उसके साथ पूरा मनोयोग जुड़ा हो। जो किया जाए पूरी दिलचस्पी के साथ किया जाए। समग्र कुशलता का उसमें समावेश जुड़ा रहे। ऐसे काम ऐसे शानदार होते हैं कि उनसे अपना मन भी प्रसन्न हो और दूसरों की दृष्टि में उस कर्तृव्य के आधार पर अपने व्यक्तित्व का मूल्य बढ़े। व्यवस्था बुद्धि कोई जन्मजात गुण नहीं है। पूरे मनोयोग से अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानकर यदि हर काम को करने की आदत डाल ली जाए तो निस्संदेह उसके द्वारा किए हुए काम ऐसे बढ़िया होंगे कि शत्रु भी उन हाथों को चूमना चाहेगा। छोटे कामों में अपनी यह प्रवृत्ति दिखाने वालों को दुनियाँ सिर आँखों पर उठाती है और फिर वे एक के बाद

एक उन्नति की सीढ़ियाँ पार करते हुए प्रतिष्ठा एवं सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं।

अच्छी आदतें डालने में देर लगती है और अध्यवसाय से काम लेना पड़ता है। आत्म-नियंत्रण रखना पड़ता है, पर बुरी आदतें थोड़ा-सा ही अवसर पाने पर स्वभाव का अंग बन जाती हैं और फिर मुश्किल से छूटती हैं। आलसी और प्रमादी स्वभाव के व्यक्ति अपना अधिकांश समय ऐसे ही बर्बाद करते रहते हैं और सामर्थ्य की तुलना में दसवाँ अंश भी काम उनसे नहीं बन पड़ता। हरामखोरी और कामचोरी की आदत आलस और प्रमाद के रूप में परिपक्व होकर जीवन की बर्बादी का कारण बनती है। ऐसे व्यक्ति कभी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। नशेबाजी, जुआ आदि के व्यसन कइयों के पीछे पड़ जाते हैं। फिजूलखर्ची की कईयों की ऐसी बुरी आदत होती है कि वे उपयुक्त आजीविका होते हुए भी सदा ऋणग्रस्त और तंगग्रस्त रहते हैं। अपने क्रिया-संस्थान पर मन का नियंत्रण न होने से ही ऐसी अस्त-व्यस्तताएँ पनपती हैं। यदि मन चेतना प्रखर हो और मच्छर काटते ही जिस तरह उसे उड़ाने का, काटे हुए स्थान को खुजलाने का प्रबंध अचेतन मन करता है उसी तरह यदि सचेतन मन शरीर की समस्त क्रिया पद्धति पर नियंत्रण रखे तो समय का हर क्षण, बुद्धि का हर कण सत्प्रयोजन के कामों का अभ्यस्त हो सकता है और प्रगति की दिशा में इतना आगे बढ़ा जा सकता है जिसे जादू या चमत्कार कहा जाए।

मुगल साम्राज्य का जब अंत हुआ तो कुछ दिन पहले केंद्र का नियंत्रण ढीला पड़ गया था और प्रांतों के सूबेदार आजाद होकर अपना अलग-अलग राज्य बना बैठे थे। यही स्वेच्छाचार उस सत्ता के पतन का कारण बना। ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ मन साम्राज्य की सूबेदार हैं यदि उन पर विवेक का नियंत्रण न रहे और वे स्वेच्छाचार बरतें तो समझना चाहिए जीवन साम्राज्य का अंत मुगल साम्राज्य की तरह ही सन्निकट-सुनिश्चित है।

मन की तीसरी प्रवृत्ति है—ज्ञान। जानकारियों के आधार पर ही मनुष्य को सही सोचने और सही निष्कर्ष निकालने की क्षमता प्राप्त होती है। एकाकी, अधूरा अथवा उलटा ज्ञान होने से चिंतन को सही दिशा नहीं मिलती और अविकसित मस्तिष्क बाल-क्रीड़ाओं की तरह ऐसा सोचता और ऐसा कुछ करता रहता है जिसे उपहासास्पद ही कहा जाए।

भावनात्मक, क्रियात्मक और ज्ञानात्मक त्रिविधि प्रवृत्तियों को संतुलित, नियंत्रित और सुव्यवस्थित रखने से ही मन की शक्ति का पूरा लाभ उठाया जा सकता है। अन्यथा वह अंतर्द्वंद्व में ही उलझी हुई अपनी अद्‌भुत क्षमता को नष्ट-भ्रष्ट करता रहता है और इतनी अद्‌भुत क्षमता से संपन्न होने पर भी मनुष्य उसके लाभों से वंचित रह जाता है।

आज ज्ञान और कर्म के विकास पर जोर दिया जा रहा है, पर भाव पक्ष को भुला ही दिया गया है। मनुष्य जड़ मशीन बनता चला जा रहा है। कंप्यूटरों की तरह का ज्ञान और मशीन की तरह का कर्म भौतिक साधन बढा सकता है, पर उससे मनुष्य की अंतःचेतना को पोषण न मिल सकेगा। भाव स्तर यदि सूना, नीरस, शुष्क और निष्ठुर बना रहे तो भाव कोमलता के उस दिव्य आनंद से सर्वथा वंचित ही रह जाना पड़ेगा जो आत्मा की भूख है। जड़ जीवन जीकर केवल इंद्रिय तृप्ति की जा सकती है और अहंता के उन्माद की थोड़ी खुमारी अनुभव की जा सकती है, पर यदि भावना स्तर को सुविकसित करने की परिस्थितियाँ पैदा नहीं की गईं तो संसार में सुख सामग्री कितनी ही बढ़ जाए, आनंद और उल्लास की एक-एक बूँद के लिए तरस कर आत्मा की उत्कृष्टता मर जाएगी। केवल नर कंकाल ही जीवित रहेगा और उसमें प्रेत पिशाच आसुरी अट्टाहस ही देखने को मिलेगा।

भाव स्तर की सरसता जिस प्रेम, दया, करुणा, ममता, स्नेह, आत्मीयता, सेवा आदि के रूपों में विकसित देखी जाती है वही जीवन की श्रेष्ठतम मधुरिमा है। उसकी एक बूँद भी कहीं मिल जाए तो

मनुष्य तो क्या छोटे जंतुओं की आत्मा भी आनंद विभोर हो जाती है।

क्वीन्स युनिवर्सिटी, आन्टोरिया (कनाडा) में 'प्रेम का प्राणियों पर भौतिक प्रभाव' विषय पर एक नई खोज के परिणाम सामने आए हैं। इस विश्वविद्यालय के फार्माकोलौजी विभाग के प्राध्यापक डॉक्टर एल्डन वायड ने बताया कि उनसे विभाग की एक महिला कर्मचारी चूहों वाले विभाग को सँभालती है। उसे स्वभावतः चूहों से बहुत प्रेम है। वह उन्हें दुलार भरी दृष्टि से देखती है, उनकी सुविधाओं का ख्याल रखती है और यथा संभव अपने व्यवहार में प्रेम प्रदर्शन भी करती है। इसका प्रभाव चूहों पर आश्चर्यजनक हुआ है महिलाओं ने चूहों के नाम रख छोड़े हैं, वह जिसे पुकारती है वही आगे आता है। जैसे ही वह पिंजड़ों के पास आती है चूहे दौड़कर उसके पास इकट्ठे हो जाते हैं और एक टक ताकते रहते हैं। जो भी वह दिलाती है खुशी-खुशी खा लेते हैं, यद्यपि उसमें तरह-तरह की औषधि मिली रहने से वह भोजन उनकी रुचि और प्रकृति के प्रतिकूल होता है, कई बार कष्टकर विधि से चूहों के शरीर में औषधियाँ पहुँचाई जाती हैं। अनुभव होने पर तो इसके लिए किसी चूहे को तैयार नहीं होना चाहिए, पर वह महिला जिस चूहे को चाहती है खुशी-खुशी इस प्रयोग के लिए सहयोग देने को तैयार कर लेती है।

कई बार चूहे मारने की दवा का भी प्रयोग किया गया। एक ही किस्म की एक ही मात्रा में दवा दो महिलाओं द्वारा चूहों को खिलाई गई। इसे प्रेम भावना युक्त महिला के हाथ से दवा खाने पर २० प्रतिशत चूहे मरे जबकि उसी दवा की उतनी ही मात्रा में दूसरी महिला ने खिलाया तो ८० प्रतिशत मर गए।

इस विभाग के अध्यक्ष डॉ. वायड ने निष्कर्ष निकाला है कि चिकित्सा क्षेत्र में प्रेम भावनाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए। चिकित्सकों का व्यवहार रोगी के साथ विश्वास, प्रेम पात्र जैसा होना चाहिए साथ ही उन्हें अपने प्रियजनों के साथ रहने का भी अवसर

देना चाहिए, ताकि रोगियों को औषधि उपचार के अतिरिक्त प्रेम भावनाओं की औषधि से भी बढ़-चढ़कर गुणकारी सिद्ध होने वाली खुराक मिलती रह सके।

प्रगति और सुख सुविधा की बात सोचने वाले मनुष्य की भाव गरिमा की ओर भी ध्यान देना चाहिए और आत्मा की इस आकांक्षा को पूरा करने के लिए भी कुछ सोचना, करना चाहिए। ज्ञान कर्म के साथ भक्ति का भी समन्वय होना चाहिए। इस हेतु भक्ति का सही-सही स्वरूप हृदयंगम करना आवश्यक है।

वृद्धावस्था तथा लकवे की बीमारी के कारण श्री राजनारायण बसु राजगृह में ही रहने लगे। अब उनका बाहर जाना बिल्कुल ही बंद हो गया। उनके परम-प्रिय शिष्य बाबू अश्विनी कुमार को इस बात का पता चला कि गुरुदेव बीमार हैं, तो वे तुरंत उनके दर्शनों के लिए चल पड़े। अश्विनी बाबू कमरे में प्रवेश करते हुए काफी गंभीर हो गए। दुःख भरे स्वर में उन्होंने गुरुदेव को प्रणाम किया और आशीर्वाद पाकर समीप ही चारपाई पर बैठ गए।

थोड़ी ही देर में बातचीत का सिलसिला चल पड़ा। राजनारायण बसु ने अपने मार्मिक उपदेश शुरू किए। भगवद्गीता तथा उपनिषदों के श्लोक वड्र्सवर्थ, शेली, वायरन तथा हाफिज आदि संत पुरुषों की सम्मतियाँ वे इस प्रकार देने लगे, मानों वे पूर्ण स्वस्थ हों, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। यह देखकर अश्विनी कुमार ने पूछा 'भगवन् ! आपने तो ईश्वर की बड़ी उपासना की, फिर भी वह आपको कष्ट दे रहा है, मैं देख रहा हूँ कि आप इस पर भी उसी ईश्वर के गुण गाए जा रहे हैं।' राजनारायण बसु बोले—'अश्विनी ! तू उन्हें दोष न दे। थोड़े दिन यह शारीरिक कष्ट मिलें भी तो उससे मेरा क्या बिगड़ जाएगा ? रोग-शैय्या पर पड़ा और भी निश्चिंतभाव से भजन कर सकूँगा, पर क्या तुम यह भूल रहे हो कि मैंने उन्हीं की कृपा से जीवन में कितने ही सुंदर दृश्य देखे और अनेक सुख उठाए हैं।' गुरुदेव की यह अविचल निष्ठा देकर अश्विनी बाबू आगे कुछ न बोल सके।

ईश्वर को प्राप्त करना कोई सहज बात नहीं है। वह अति दुस्तर और कठिनाई से ही जाना जा सकता है। इस संसार में बहुत सुखद पदार्थ हैं। धन, यौवन, दीर्घ-जीवन, राज-सिंहासन और तू कहे तो मैं तुझे अनंत काल तक सुखोपभोग करने वाली सामर्थ्य प्रदान कर सकता हूँ मगर तू ब्रह्म को जानने का हठ न कर।' ऋषि-पुत्र नचिकेता ने सारी बातें ध्यान से सुनी यमाचार्य के कथन में उन्होंने कोई रोक-टोक नहीं की।

यमराज ने संभाषण समाप्त किया तो उसी सरलता के साथ नचिकेता ने जवाब दिया—देव ! बहुत सुखोपभोग प्राप्त कर लेने पर भी क्या मेरा यह जीवन बना रहेगा। फिर भोगों से तृप्ति भी तो नहीं होती। इसलिए अपना धन, अपना ऐश्वर्य, राज सिंहासन तथा नाच-गान आप अपने ही पास रखें। मुझ पर यदि प्रसन्न हों तो उपदेश दें जिससे मेरा आत्म-कल्याण हो। नचिकेता की दृढ़ता पर यमराज प्रसन्न हुए और उसे ब्रह्म विद्या का ज्ञान कराया।

एक ब्राह्मण बड़ा निर्धन था। उसने एक संत की इसलिए सेवा की कि उसके आशीर्वाद से उसका धनाभाव दूर हो जाएगा। बहुत काल तक सेवा करने के बाद महात्मा प्रसन्न हुए और पूछा—'वत्स ! तूने मेरी इतनी सेवा क्यों की ? मैं तेरी इच्छा पूरी करना चाहता हूँ।' निर्धन ने कहा—'भगवान् मैंने आपकी सेवा इसलिए की है कि आप मुझे कोई ऐसा आशीर्वाद दें जिससे मेरा धनाभाव दूर हो जाए और मैं इस नगर का सबसे बड़ा सेठ हो जाऊँ।'

ब्राह्मण की बात सुनकर संत ने कहा—'तुम विंध्यपुरी के महात्मा प्रभुदास के पास जाओ। वे तुम्हें एक ऐसी पारस-मणि देंगे, जिससे तुम मन चाहा सोना इकट्ठा कर सकोगे और नगर के सबसे बड़े सेठ बन जाओगे।' ब्राह्मण ने वैसा ही किया। उसने महात्मा प्रभुदास के पास जाकर सारी कथा कह सुनाई। महात्मा जी ने बिना कुछ कहे प्रसन्न मुद्रा में वह पारसमणि उस ब्राह्मण को दे दी। ब्राह्मण को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह कैसे महात्मा हैं, जो इन्हें धन से भी मोह नहीं है ? ब्राह्मण ने अंत में अपनी आशंका व्यक्त कर

ही दी। संत ने कहा—'वत्स ! मेरे पास इससे भी बड़ी संपत्ति है, जिसका नाम ईश्वर प्रेम है। इसके आगे धन तो बिल्कुल तुच्छ है।' महात्मा की इस गहन निष्ठा से ब्राह्मण बड़ा प्रभावित हुआ और उसने भी धन का मोह त्याग कर अपना शेष जीवन परमात्मा के भजन में ही लगाया।

एक व्यक्ति ने अज्ञान में बहुत पाप किए। कुछ दिन में उसकी भेंट एक ईश्वर-भक्त से हो गई। इन महात्मा के उपदेश से उस व्यक्ति की आँखें खुलीं और संसार के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हुआ। इस प्रकार का आत्मबोध हुआ तो सबसे पहले अपने पापों पर बड़ा दुःख हुआ। उसने महात्मा से प्रायश्चित का उपाय पूछा। उन्होंने बताया कि यदि वह गंगा स्नान कर ले तो उसके पाप दूर हो सकते हैं। इस पर व्यक्ति प्रसन्न हुआ और गंगा स्नान के लिए चल पड़ा।

उन दिनों मोटरों-गाड़ियों का प्रचलन न हुआ था। गंगा जी वहाँ से काफी दूर थीं। उस आदमी को गंगाजी का पता ठिकाना भी न मालूम था। उसे केवल यही अनुमान था कि गंगाजी किसी बड़े जलाशय का नाम है। दिन भर चलते रहने के बाद तीसरे पहर उसे एक बड़ा तालाब मिला सोचा बस यही गंगाजी हैं। बड़े प्रेम से कपड़े उतारे, स्नान किया और फिर कपड़े पहनकर घर लौटने की तैयारी करने लगा। तभी एक दूसरा व्यक्ति वहाँ आ पहुँचा, जिससे मालूम पड़ा कि गंगाजी तो अभी बहुत दूर हैं।

यात्री ने दूसरे दिन पद-यात्रा की। कई दिन तक लगातार चलते रहने के बाद उसे एक नाला मिला। उसने उसे ही गंगा जी समझ कर स्नान किया और फिर प्रसन्नतापूर्वक घर लौटने की तैयारी करने लगा, पर एक बालक ने बताया कि वह मामूली नाला है, गंगाजी तो यहाँ से बहुत दूर हैं।

वह आदमी फिर यात्रा पर चल पड़ा। कई सप्ताह चलते रहने के बाद उसे एक बड़ी नदी मिली। इस बार उसे पक्का विश्वास हो गया कि यही गंगाजी हैं। भक्त ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्नान किया

और फिर घर लौटने की तैयारी करने लगा। इसी समय एक स्त्री ने उस नदी का नाम लेकर जयकार लगाई। यह सुनकर उस आदमी को बड़ा विस्मय हुआ कि वह जिसे गंगा समझ रहा था, वह तो एक दूसरी नदी निकली।

भक्त थक गया था। पाँव सूज गए थे और उनमें छाले पड़ गए थे। खाने के लिए अन्न भी न बचा। शरीर दुर्बल पड़ गया, पर उसे अभी भी गंगा-स्नान की तीव्र अभिलाषा हो रही थी। वह फिर चल पड़ा। कुछ दूर चलने पर अंत में उसे गंगाजी दिखाई दीं, पर वह उसके रेत में पहुँचते ही थककर गिर गया। बड़ा जोर मारा, पर पाँव जवाब दे गए। उसने घिसटना शुरु कर दिया। किसी तरह वह तट तक पहुँचा, पर तब तक उसके प्राण निकल चुके थे।

इटली के वीर सेनानी गैरीवाल्डी ने अपनी जीवन-कथा में लिखा है—युद्ध में मेरी विजय और साहस को देखकर मेरे मित्र बड़े विस्मय में हैं और वे यह समझते हैं कि मैं किसी दैवी शक्ति का प्रयोग करता हूँ, पर मैं यहाँ साफ बता देना चाहता हूँ कि मेरे साहस और शौर्य के मूल में ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास ही है। मेरा विश्वास है कि जब तक मेरी माता मेरे प्राण रक्षार्थ ईश्वर के ध्यान में निमग्न रहेगी, तब तक मुझे कोई भी विपत्ति नहीं पकड़ सकती। मैं ईश्वर के भरोसे पूर्ण निश्चिंत हूँ। अपने प्राणों की रक्षा के लिए जरा भी शंका नहीं है।"

इस युद्ध में भीषण रक्तपात हुआ। गैरीबाल्डी के पास से सनसनाती हुई गोलियाँ छूटतीं और गोले दगते रहे, पर उसके जीवन को आँच नहीं आई।

धर्म-पुराण में कहा है—जिस परमात्मा को बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी भी योग साधनाएँ करके नहीं जान पाते, उसे भक्त अपनी निष्ठा और भावना के द्वारा शीघ्र ही आकर्षित कर लेते हैं। भगवान् तो भक्ति का भूखा और निष्ठा का प्यासा है, जहाँ उसे यह दोनों बातें मिल जाती हैं, वहाँ पहुँचने में उसे देर नहीं लगती।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह सुख पूर्वक जीवन को जिए। सब का प्रेम और स्नेह प्राप्त करे। शक्ति और समृद्धि के पथ पर आगे बढ़ने की इच्छा किसको नहीं होती। सर्वज्ञता की अभिलाषा भी ऐसे ही सबको होती है। यह दूसरी बात है कि यह संपूर्ण सौभाग्य किसी को मिले या न मिले, मिले भी तो न्यूनाधिक मात्रा में, जिससे किसी को संतोष हो किसी को न हो।

परमात्मा संपूर्ण ऐश्वर्य का अधिष्ठाता माना गया है। वह सर्वशक्तिमान है। वेद उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी बताते हैं। यह उसके गुण हैं अथवा शक्तियाँ। सांसारिक जीवन में उन्नति और विकास के लिए भी इन्हीं तत्त्वों की आवश्यकता होती है। बुद्धिमान्, शक्तिवान् और ऐश्वर्यवान व्यक्ति बाजी मार ले जाते हैं शेष अपने पिछड़ेपन, अभाव दुर्दिन का रोना रोया करते हैं।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इन तीन तत्त्वों का विकास मनुष्य ईश्वर भक्ति से बड़ी सफलता से प्राप्त कर लेता है, कबीर निरक्षर थे, किंतु ईश्वर उपासना से उनकी सूक्ष्म बुद्धि का विकास हुआ था। विचार और चिंतन के कारण उनमें वह शक्ति आविर्भूत हुई थी जो बड़े-बड़े विद्यालयों के छात्रों, शिक्षकों को भी नहीं नसीब होती। कबीर अक्षर लिखना नहीं जानते थे, किंतु वह पंडितों के भी पंडित हो गए।

ध्रुव वेद-ज्ञानी न थे, प्रहलाद ब्रह्मोपदेशक न थे, नानक की बौद्धिक मंदता सर्वविदित है। सूर और तुलसी जब तक साधारण व्यक्ति के तरीकों से रहे तब तक उनमें कोई विशेषता नहीं रही, किंतु जैसे ही उनमें भक्ति रूपी ज्योति का अवतरण हुआ अविद्यारूपी आवरण का अपक्षरण हो गया और काव्य की विचार की ऐसी अविरल धारा बही कि काव्याकाश में "सूर सूर और तुलसी चंद्रमा हो गए।"

जिन लोगों में ऐसी विलक्षणताएँ पाई जाती हैं वह सब ईश्वर चिंतन का ही प्रभाव होती हैं, चाहे वह ज्ञान और भक्ति पूर्व जन्मों की हो अथवा इस वर्तमान जीवन उपासना से चित्त-शुचिता,

मानसिक संतुलन, भावनाओं में शक्ति और पंचकोषों में जो सौमनस्य प्राप्त होता है वह बौद्धिक क्षमताओं के प्रसार से अतिरिक्त है। यह सभी गुण बुद्धि और विवेक का परिमार्जन करते हैं। दूर-दर्शन की प्रतिभा का विकास करते हैं। प्रारंभ में वह केवल किसी वातावरण में घटित होने वाली स्थूल परिस्थितियों का ही अनुमान कर पाते हैं, किंतु जब भक्ति प्रगाढ़ होने लगती है तो उनकी बुद्धि भी इतनी सूक्ष्म और जागृत हो जाती है कि घटनाओं के सूक्ष्म अंग उन्हें ऐसे विदित हो जाते हैं जैसे कोई व्यक्ति कानों में सब कुछ चुपचाप बता गया हो।

ईश्वर-भक्ति की प्रगाढ़ अवस्था भ्रमर और कीट जैसी होती है। भ्रमर कहीं से कीट को पकड़ लाता है फिर उसके सामने विचित्र गुँजार करता है। कीट उसमें मुग्ध होकर आकार परिवर्तन करने लगता है और स्वयं ही भ्रमर बन जाता है। ईश्वर उपासना में भी वह अचिंत्य शक्ति हैं जो उपासक को उपास्य देवता से तदाकार करा देती है। गीता के ११ वें अध्याय श्लोक ५४ में भगवान कृपा ने स्वयं इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है—"अनन्य भक्ति से ही मुझे लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। भक्ति से ही मैं बुद्धि में प्रवेश करने योग्य बनता हूँ।"

ईश्वर-सुखी आत्माओं में जहाँ सूक्ष्म बुद्धि का विकास होता है और वे सांसारिक परिस्थितियों को साफ-साफ देखने लगते हैं वहाँ उनमें सर्वात्म-भाव भी जागृत होता है। इंद्रियों से प्रतिक्षण उठने वाले विषयों के आकर्षणों में आनंद की क्षणिक अनुभूति निरर्थक साबित हो जाती है जिससे शारीरिक शक्तियों का अपव्यय रुक जाता है। रुकी हुई शक्ति को आत्म कल्याण के किसी भी प्रयोजन में लगाकर उससे मनेवांछित सफलताएँ पाई जा सकती हैं जिन लोगों ने संसार में बड़ी सफलताएँ पाई हैं विश्वास के रूप में परमात्मा ने ही उन्हें वह मार्ग दिखाया और सुझाया है। निष्काम कर्म में प्रत्येक कर्म परमात्मा को समर्पित करना बताया जाता है उससे भी यही तथ्य काम करता है कि मनुष्य प्रतिक्षण प्रत्येक

कार्य में परमात्मा का अनुग्रह और अनुकंपा प्राप्त करे। ईश्वर निष्ठ व्यक्ति के अंतःकरण में उसकी सफलता का विश्वास अपने आप पर बनता है और इस तरह वैभव विकास की परिस्थितियाँ भी अपने आप बनती चली जाती हैं। भूल दरअसल यह हुई कि कुछ लोगों ने सांसारिक कर्त्तव्य पालन को तिलांजलि देकर आत्म-कल्याण के लिए पलायन वाद का एक नया रास्ता खड़ा कर दिया। इससे लोगों में मतिभ्रम हुआ अन्यथा परमात्मा स्वयं अनंत ऐश्वर्य से संपन्न है वह भला अपने उपासक को क्यों उससे विमुख करने लगा ? ईश्वर उपासना से बौद्धिक सूक्ष्मदर्शिता की तरह अनवरत क्रिया-शीलता का भी उदय होता है। परिश्रम की आदत पड़ती है। पुरुषार्थ जगता है। इन वीरोचित गुणों के रहते हुए अभाव का नाम भी नहीं रह सकता। परमात्मा अपने भक्त को क्रियाशील बनाकर उसे संसार के अनेक सुख ऐश्वर्य और भोग प्रदान करता है। मनुष्य स्वयं बेवकूफी न करे तो वह चिरकाल तक उनका सुखोपभोग करता हुआ भी आत्म-कल्याण का लक्ष्य पूरा कर सकता है।

जीव या मनुष्य परमात्मा का ही दुर्बल और विकृत भाव है। दरअसल जीव कोई वस्तु नहीं परमात्मा ही अनेक रूपों में प्रतिभासित हो रहा है। जब तक हमारी कल्पना जीव भाव में रहती है तब तक अपनी शक्ति और सामर्थ्य भी वैसी ही तुच्छ और कमजोर दिखाई देती है। ईश्वर भक्ति से कीट के अंग परिवर्तन जैसे प्रारंभिक कष्ट तो अवश्यंभावी हैं, किंतु जीव का विकास सुनिश्चित है। प्रारंभ में वह स्वार्थ, परमार्थ, माया ब्रह्म, लोक और परलोक की मोह ममता में परेशान रहता है। कीट जिस तरह भ्रमर का गुंजन पसंद तो करता है, किंतु वह अहंभाव छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता, उसी प्रकार जीव का अहंभाव में बने रहना प्रारंभिक स्थिति है, उसके लिए जिद करना, मचलना साधना की प्रारंभिक अवस्था है। उसे पार कर लेने पर जब वह नितांत ब्राह्मी स्थिति अर्थात् तदाकार में बदल जाता है, तो उसका अहंभाव एक विशाल शक्तिमान् रूप में परिणत हो जाता है।

वह अपने को ही ब्रह्म के रूप में देखने लगता है। "मैं ही ब्रह्म हूँ" यह स्थिति ऐसी है जिसमें जीव की शक्तियाँ विस्तीर्ण होकर ईश्वरीय शक्तियों में बदल जाती हैं।

संसार में सुख स्वामित्व और विकास के लिए तीसरी वस्तु जो आवश्यक है वह शक्ति भी उसे मिलती है। शक्ति बुद्धि और साधन पाकर जीव दिनों दिन उन्नति की ओर बढ़ता जाता है। यह सही है कि परमात्म भाव अपने निश्चित समय में पकता है इसलिए फल देखने के लिए मनुष्य को भी निर्धारित नियमों और समय की प्रतीक्षा करनी पड़े किंतु यह निश्चित है कि मनोवांछित सफलता और जीवन विकास का अधिष्ठाता परमात्मा ही है। उसकी भक्ति के बिना सब उपलब्ध नहीं हो सकता जिसकी हम इस जीवन में कामना करते हैं।

❐ ❐

भक्ति पथ की जीवन नीति

सृष्टि में मनुष्य-शरीर जैसी विलक्षण कोई दूसरी वस्तु नहीं। नाना प्रकार की इच्छाओं, कामनाओं, भावनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं का जन्म ही इसमें होता रहता है, इतना ही नहीं संसार में जो कुछ भी अद्‌भुत और अलभ्य है, उस सबकी अनुभूति इस शरीर से संभव है। शरीर ही जीव के आत्म-कल्याण का साधन है, बढ़िया उपयोग हो सके, तो स्वर्ग अपवर्ग की प्राप्ति भी मनुष्य जीवन से ही संभव है। संक्षेप में जो कुछ भी सृष्टि में है वह सब मनुष्य शरीर में है।

सूर्य, चंद्रमा जैसे अगणित ब्रह्मांडों के सूक्ष्म-ब्रह्मांड जगत् इस शरीर में है, जीवात्मा उनमें विहार कर सकता है। ईश्वरीय आनंद का उपभोग यदि कहीं प्रत्यक्ष संभव है, तो मनुष्य शरीर से ही संभव है, शर्त यह है कि जीवन-ज्योति ऐसी हो, जो उस शाश्वत लक्ष्य की ओर ले चलने में सहायक हो रामायण कहती है—

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद्‌ग्रंथ न गावा।।
साधन-धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा।
सो परम दुःख पावई सिर धुनि-धुनि पछताय।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय।।

मनुष्य शरीर जैसा उपयोगी साधन नहीं, जो जीवन लक्ष्य का उद्‌बोधन करा सके। यही एक ऐसा जीवन है, जिससे नर-नारायण बन सकता है, संत एकनाथ जी भाव-विभोर होकर गाया करते थे—

नरदेहा चे नि ज्ञाने, सच्चिदानंद पदवी द्यॆंग।
वे बढ़ी अधिकार नारायणे कृपावलोकने दीघला।।

अर्थात्—परमात्मा ने कृपापूर्वक मनुष्य को यह अधिकार दिया है कि ज्ञान के द्वारा वह इसी नरदेह में सच्चिदानंद को प्राप्त करे।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शास्त्रकारों ने गहन अनुसंधान के बाद ऐसे मार्ग निर्धारित किये हैं, जिन पर चलता हुआ मनुष्य पारलौकिक आनंद का रसास्वादन कर सकता है। (१) ज्ञान-योग, (२) भक्तियोग, (३) कर्म-योग। ये तीन मार्ग परमात्मा तक पहुँचने के हैं, इनमें भक्ति सर्वसुलभ और सरल साधन है। रामायण में तो कलियुग क्या किसी भी युग में केवल भक्ति को ही सर्वोत्तम साधन बताकर केवल इसी पथ की अभिव्यंजना की है।

भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत, सारद आवति धाई।।
रामचरित्र सर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाई न कोटि उपाए।।

भक्ति में वह रस है कि नारद जैसे ज्ञानी भी उसके लिए इच्छुक हो, अपने लोक से विष्णुपुरी तक भागते हैं। भक्ति मार्ग की एक सुव्यवस्थित जीवन-नीति है, उस पर यदि चला जा सके, तो बड़े-बड़े साधन और ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं, मनुष्य स्वल्प प्रयास से ही सौभाग्य सिद्ध कर सकता है।

भक्ति का जो स्वरूप आज सर्वत्र प्रचलित है, वह सही नहीं है। भक्ति वस्तुतः ईश्वर निष्ठा की कठिन कसौटी है जिस पर विरले मनस्वी ही पार लगते हैं। सच तो यह है कि कोई भी योग भक्ति के बिना संपूर्ण नहीं होता। साधनों की कठिनाई में भक्ति भावना ही अंतर्दर्शनार्थी को सहारा दिये रहती है। भक्ति वह कोमलता है, जो माँ की तरह उसके जटिल जीवन को भी सरल और प्रवाहमान रखती है। रामायण में भगवान राम कहते हैं—

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।
ग्यान अगम प्रत्यहू अनेका।। साधन कठिन न मन कहुँ टेका।।
करत कष्ट बहु पावई कोऊ। भक्ति हीन मोह प्रिय नहिं सोऊ।।

भक्ति की ऐसी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भगवान ने भक्त की जीवन-नीति भी घोषित की और कहा—

सरल सुभाउ न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई।।

वह जिसका मन सरल स्वभाव वाला है, जिसे थोड़े लाभ में भी संतोष रहता है, वही सच्चा ईश्वर भक्त है।

देर न विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा।
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ आरोप दच्छ विज्ञानी।।
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा।

वह जो किसी से वैर नहीं करता, किसी से झगड़ा नहीं करता, न सुख की आशा, न किसी से भय, जो कुछ मिले उसी में सुखी, स्वयं को कर्त्तापन के अभिमान से जो मुक्त रखता है, जिसे अपने मन की महत्त्वाकांक्षा नहीं, निष्प्राण-अक्रोध अंतःकरण और जो संसार को एक विज्ञान की तरह निरंतर मन में स्थिर रखता है, ऐसा भक्त ही मुझे प्रिय है।

भगति पच्छ हठ नहिं सताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।।

भक्त शठता नहीं करता, किसी वस्तु के लिए हठ नहीं करता, दुष्ट सताता है; बुरा-भला कहता है, तो उसे उपेक्षा द्वारा टाल देता है।

मम गुन ग्राम नाम गत ममता मद मोइ।
ताकर सुख सोइ जानई परानंद संदोह।।

इस तरह ममता, मोह और अभिमान से विमुक्त हुआ जन निरंतर विराट परमात्मा का मानसिक स्तवन किया करता है, उसका सुख तो बस वही जान सकता है। वह आत्मानंद की स्थिति ही मनुष्य जीवन का अनादि और अनंत लक्ष्य है।

भक्तिमय जीवन के इस व्यावहारिक पक्ष को समझने के बाद उन मान्यताओं का खण्डन हो जाता है, जो केवल क्षणिक मूर्ति-दर्शन, तीर्थयात्रा, गंगा स्नान, कथा-कीर्तन, व्रत से फलीभूत माना जाता है। श्रद्धा का सुख मिले इसके लिए यह भी आवश्यक है, पर ईश्वर भक्त होकर भी व्यावहारिक जीवन की शुरू, पवित्रता, नियम-बद्धता और सामाजिक मर्यादाओं के पालन की दृढ़ता आवश्यक ही नहीं पूर्ण अनिवार्य है।

ब्रह्म सिंधु-सदृश्य गंभीर और व्यापक है, ज्ञान विराट ब्रह्म का देवता है, जो जन ईश स्तवन भक्ति को परिपुष्ट करते रहते हैं, अनासक्त रहकर ज्ञान द्वारा मद, मोह, लोभ आदि को मानते रहते हैं, ऐसी सुदृढ़ भक्ति वाले लोग संसार में विजयी होते हैं और मनुष्य जीवन में आने का सौभाग्य सफल बनाते हैं।

इस प्रकार जब अपने जीवन को शुद्ध, सरल सात्विक सदय, सन्मार्ग, गामी, सद्ज्ञान संपन्न बनाता मनुष्य परमात्मा की भक्ति में तत्पर होता है, तो उसके सारे दुःख नष्ट हो जाते हैं और वह क्षिप्रता से परम प्रकाश की ओर गमन करने लगता है। रामायण बताती है—

राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसई गरुड़ जाके उर अंतर।।
परम प्रकाश रूप दिन राती। नहिं कछु चहिऊ दिया घृत बाती।।
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लाभ बात नहिं ताहिं बुझावा।।
प्रबल अविद्या तम मिट जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई।।
खल कामादि निकट नहिं जाई। बसई भगति जाके उर माहीं।।
व्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।।
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुःख लवलेस न सपनेहुँ ताकें।।
चतुर सिरोमनि तेई जग माहीं। जे मन लागि सुजतन करहीं।।
भाव सहित खोजई जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी।।

इन पंक्तियों में स्पष्ट है कि भक्ति मनुष्य को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने में सच्चा सहायक है, पर वह भी एक योग है। योग सरल नहीं कठिन हुआ करते हैं। भक्ति-योग की कठिनता यह है कि व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति भी शुद्ध, खरा और पूर्ण अध्यात्मवादी होनी चाहिए। इस शर्त के साथ की गई भक्ति ही फलदायक ही है, अन्य नहीं।

कुछ लोग भक्ति का अर्थ ईश्वर के प्रति प्रेम का प्रदर्शन मान बैठते हैं। भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम तो है, किंतु उस प्रेम के प्रदर्शन को भक्ति समझना भूल होगी। जब सामान्य व्यक्ति के प्रति सच्चा प्रेम तक प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं रखता अपितु वह व्यवहार से स्वतः ही

प्रकट हो जाता है, तब सर्वज्ञ ईश्वर के प्रति प्रेम का बाजार प्रदर्शन भला क्या अर्थ रखता है ? विश्व-व्यापी संचेतन—सत्ता के प्रति जो व्यक्ति के प्रत्येक आचरण से स्वतः ही अभिव्यक्त होता है।

वस्तुतः पाप-बंधन का मूल पाप पूर्ण आस्थाएँ ही हैं। जिसने अपनी आस्थाएँ परम पवित्र, परम प्रकाशवान, परम उत्कृष्ट सर्वव्यापी परमात्मा में केंद्रित-नियोजित कर दीं, उसके भीतर पाप-भावनाएँ और पाप-प्रेरणाएँ टिक ही कैसे सकती हैं ? जिसने प्रत्येक क्षण उस ईश्वरीय सत्ता का ही स्मरण वंदन किया, उसके आचरण में अनीति-अनौचित्य का समावेश असंभव है। श्रीकृष्ण का उपरोक्त कथन वस्तुतः भक्ति-भाव श्रद्धा एवं आस्था के महत्त्व का प्रतिपादक है। श्रद्धा-आस्था को जिसने उत्कृष्ट बना लिया, उसे पाप-बंधन नहीं छू सकते। भक्ति-पथ की जीवन ज्योति आत्म-श्रद्धा को ईश्वर केंद्रित बना डालती है। ईश्वरीय भाव-संवेदनायें जिसकी आत्म-सत्ता के आधार एवं कलेवर दोनों बन जाएँ, उसी की श्रद्धा और भक्ति प्रगाढ़ एवं परिपक्व है। उसी का जीवन ईश्वरमय है।

❐ ❐

श्री राम झोला पुस्तकालय

पूज्य गुरुदेव के विचारों को साहित्य के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने के लिए एक नवीन एवं सफल योजना 'श्रीराम झोला पुस्तकालय' प्रारंभ की गई है। आप से अनुरोध है कि आप १३० रु० भेजकर १०० पाकेट बुक्स अलग-अलग मंगा लें। इनके ८-८ पुस्तकों के १२ सैट बना लें। प्रत्येक सैट में अलग-अलग विषयों की पुस्तकें रखें। अब १२ रुपये लेकर ८ पुस्तकों का एक सैट देकर सदस्य बनाएँ। सदस्यता फार्म फोल्डर में छपा है इसे हाथ से कार्बन कापी कर लें अथवा छपवा लें। फार्म भरवाकर अपने पास रिकार्ड हेतु रखें। प्रत्येक माह सैट बारह सदस्यों के बीच बदलते रहें। इस प्रकार आप १२ रुपये लेकर वर्ष में १४४ रुपए की पुस्तकें पढ़ा सकेंगे। चाहें तो वर्ष के अंत में एक-एक सैट सबको उपहार स्वरूप दे दें। पुस्तकों के पैसे आपको पहले मिल ही गए हैं। कोई सदस्य पुस्तक को खरीदना चाहें तो १.५० रुपये लेकर दे दें। लेकिन उस पुस्तक के स्थान पर दूसरी पुस्तक सैट में लगाने हेतु अपने पास रखें। इस योजना में आपको प्रारंभ में कुछ धन लगाना तो पड़ेगा लेकिन सब वापस आता रहेगा और आपका कुछ भी खर्च नहीं होगा। अधिक सदस्य बनाने के अधिक पुस्तकें उसी अनुपात में मंगा लें और ८-८ पुस्तकों के सैट बनाकर १२ रुपये लेकर देते रहें तथा प्रतिमाह नवीन सैट से बदलते रहें। कार्य में कोई समस्या आए, तो पत्र व्यवहार द्वारा समाधान करते रहें। आवश्यकतानुसार पत्र डालकर योजना के फोल्डर निःशुल्क मंगा लें।

मुद्रक—युग निर्माण प्रेस, मथुरा (उ० प्र०) २८१००३